कोविद निबन्ध

(संयुक्त प्रान्त के शिक्षा-विभाग की कोविद परीक्षा के लिए

सम्पादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी

१९४६

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स,

आगरा

मूल्य १।ऽ)

'कोविद निबन्ध' संयुक्त प्रान्त के शिक्षा-विभाग की कोविद परीक्षा के द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम के लिए तैयार किया गया है। कोविद परीक्षा शिक्षा-विभाग में हिन्दी की सर्वोच्च परीक्षा है और यह परीक्षा हिन्दी और अंग्रेजी स्कूलों के अध्यापकों के लिए ही मुख्य रूप से स्थापित की गई है हिन्दी गद्य साहित्य ने इधर पिछले वर्षों में जो आशातीत उन्नति की है उसका प्रभाव हमारे स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों पर भी पड़ा है। आज की पाठ्य पुस्तकों में आधुनिक साहित्य को प्रमुख स्थान दिया जाता है, किन्तु हमारे हिन्दी के अध्यापक प्रायः उस युग के हैं जिसमें आधुनिक साहित्य का पठन-पाठन प्रचलित न था। इससे स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा का मान ठीक नहीं हो पाता। प्रस्तुत संग्रह इसी कठिनाई को ध्यान में रख कर तैयार किया गया है। इसमें आधुनिक प्रतिनिधि प्रतिष्ठित लेखकों के निबन्धों का संग्रह है। निबन्धों का चयन भाषा और साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत उनके विचारों की दृष्टि से भी किया गया है। यह आशा की जाती है कि इन निबन्धों से पाठकों को आधुनिक हिन्दी साहित्य का परिचय ही प्राप्त न होगा, प्रत्युत उन्हें साहित्यिक आनन्द के साथ-साथ उनके विचारों को भी उत्तेजन मिलेगा इन

निबन्धों से पाठकों के ज्ञान की भी वृद्धि होगी। इस संग्रह के विषय यह कहा जा सकता है कि इसका मान बहुत ऊँचा है। किन्तु सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि कोविद परीक्षा हमारे विभाग की सब परीक्षा है। उसका मान दण्ड भी बहुत ऊँचा ही होना चाहिए।

इस संग्रह में जिन विद्वान लेखकों के निबन्ध हैं उनका मैं अत्य अनुगृहीत हूँ, क्योंकि उनकी कृपा और सहयोग के बिना इस प्रकार प्रतिनिधि संग्रह का तैयार करना असम्भव था।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

विषय-सूची

देहाती जीवन की दो अनमेल तसवीरें

ग्राम-गीत देहाती के अंतस की खिड़कियाँ हैं। उनसे झाँकने पर हमें उस छिपी हुई दुनियाँ का बहुत-कुछ पता लग सकता है। हिन्दीवालों के सौभाग्य से हिन्दी में ग्राम-गीतों का एक संग्रह मौजूद है, जिसके लिये हमें श्रीरामनरेश त्रिपाठी का हृदय से कृतज्ञ होना चाहिये। हमे देहाती जीवन को आलोकित करने वाला अद्भुत मसाला इसमें मिलता है। संग्रहीत ग्राम-गीतों का तो मूल्य है ही, किन्तु पंडितजी द्वारा लिखित भूमिका और प्रस्तावना भी अत्यन्त अर्थगर्भित हैं। उनके कारण इस ग्रन्थ का महत्त्व कई गुना अधिक बढ़ जाता है। मैंने इसे आद्योपान्त पढ़ा और पढ़कर मैं त्रिपाठीजी के इस कथन से सहमत हूँ कि 'ग्राम-गीत' तो 'प्रकृति के उद्गार' हैं, क्योंकि ग्रामीणों के बीच में 'हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान किया करती है'। इन्हीं गीतों की मदद से हम देहातों को आसानी से समझ सकते हैं। वे तो देहातियों के सुख-दुख की सच्ची कहानियाँ हैं। इसी लिये मैं देहातों की मनोवृत्तियों का नक़शा इन्हीं देहाती गानों के आधार पर खींचने की इस लेख में कोशिश करूँगा, क्योंकि यदि ग्राम-गीतों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर हम देहात के रहनेवाले अपने भाइयों की मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करें तो हमें उनके सुधार की तदवीरें सोचने में बहुत कुछ मदद मिल सकती है। अभी तक हमारे लेखकों ने ग्रामीणों की प्रकृति, उनकी प्रवृत्ति और उनकी आध्यात्मिक उलझनों और प्रतिबन्धों को न तो समझने की कोशिश की और न इस ओर कोशिश करने की उन्होंने कोई आवश्यकता ही समझी। सफल वैद्य तो वह है, जो रोग के ऊपरी

लक्षणों के साथ-साथ, उसके इतिहास और रोगी के स्वभाव आदि का भी पता लगाता है। केवल रोग के ऊपरी लक्षण से जो वैद्य ओषधि बनायेगा वह कभी सफल वैद्य नहीं हो सकता। इसी तरह गाँव की समस्या तभी हल हो सकती है जब हम देहाती जीवन की मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से पड़ताल करें और इस बात को समझने की चेष्टा करें कि वह कौन-से कारण हैं जिनकी वजह से वह इस समय हतबुद्धि, हतोत्साह और आत्मोन्नति से उदासीन हो गया है। हम सब भूतकाल के "भूत" के क़ैदी हैं। उसके कठोर हाथ हमारे कन्धों पर हैं। और हम उठना चाहते हैं; लेकिन उठ नहीं पाते। आगे बढ़ना चाहते हैं; लेकिन उसके बोझ से पैर का खिसकना भी हमारे लिये भार हो गया है।

हिन्दुस्तानी किसान में कोई बुनियादी खराबी नहीं है, और न उसकी जड़ में कोई जहरीला कीड़ा ही लगा है। जिन्होंने हिन्दुस्तान के बाहर उपनिवेशों में उत्तर और दक्षिण-भारत के 'कुलियों' को देखा है, उनसे पूछिये कि हिन्दुस्तान के देहातों में कितनी अद्‌भुत शक्ति है या उसमें कितने गुण हैं। मैंने हिन्दुस्तान से १३ हजार मील दूर ब्रिटिश गायना में उत्तर-भारत से गये हुए हजारों 'कुलियों' को देखा है। ऐसे ही भाइयों के दर्शन ट्रिनीडाड में भी हुए। फीजी, नैटाल और मारीशस में बसने वाले हिन्दुस्तानी 'कुलियों' के हाल मैंने पढ़े और सुने हैं, और जो कुछ देखा या सुना, उस सबका मेरे ऊपर एक ही असर हुआ। भारतीय किसान की अपूर्व क्षमता, कार्य-कुशलता, हिम्मत, धीरज, संकट झेलने का साहस और उसको वश में कर लेने की हिकमत-अमली को देखकर किसका सिर श्रद्धा और अभिमान से झुक नहीं जाता? लेकिन जो देहाती विदेशों में, कुली के रूप में असम्भव को सम्भव कर दिखाता है, वही हिन्दुस्तान में रह कर, क्या कारण है, निकम्मा, अपाहिज और निर्जीव बना रहता है? उसमें शक्ति है। यदि उसमें शक्ति न होती तो वह विदेशों में जाकर इतना पौरुष कहाँ से दिखाता? फिर वह कौन-सा बंधन है जिसकी वजह से उसकी वह शक्ति हिन्दुस्तान में सोई-खोई पड़ी रहती है? कोई तो ऐसा कारण है,

जो हमारे देहातियों को उसके जन्मस्थान में न केवल असफल बना देता किन्तु उनकी उठने की इच्छा तक को भी जड़ ही से मार देता है ? वह कौन-सा लक़वा है जो हमारे किसानों की आत्माओं को निर्जीव कर देता है। सचेतों को अचेत बना देता है ? यही दशा सन् २० के पहले आयरलैण्ड के किसानों की भी थी। आयरलैण्ड में भी उनकी दशा उतनी ही खराब थी, जितनी बिगड़ी हुई दशा गाँव के रहने वाले हमारे किसानों की है। लेकिन वे ही आयरिस किसान जब आयरलैण्ड छोड़कर अमरीका चले जाते थे तो वहाँ वे एकदम् से बदल जाते थे। जो अपने देश में मिट्टी के निरे लोंदे थे, वे ही आयरलैण्ड के बाहर निकलते ही आग के परकाले हो जाते थे। जो आयरलैण्ड में निकम्मे थे, अमरीका पहुँचते ही उनकी सफ़ों में गिनती होने लगती थी। इलाहाबाद का एक मुसलमान किसान इस जिले में पुश्त-हा-पुश्त कंगाल ही बना रहता है लेकिन यदि वही कंगाल मुसलमान 'कुली' होकर ब्रिटिश गायना चला जाय तो वहाँ पर वही कुली १३ वर्ग मील के एक फार्म का मालिक बन जाता है। एक भंगी फ़र्रुखाबाद से ब्रिटिश गायना में जाकर करोड़पति हो जाता है। बिहार से गये हुए एक 'कुली' दम्पति का पुत्र खेती में अपनी अद्भुत सूझ-बूझ के कारण अमरीका के बड़े-बड़े इंजीनियरों के कान काट लेता है। लेकिन क्या कारण है कि वही भंगी और वही बिहारी हिन्दुस्तान में निकम्मे और अपाहिज बने रहते हैं ? क्या भारत की जलवायु में कुछ दोष है, या हमारे देहाती जीवन में कुछ खामी है, जिसकी वजह से होनहार बिरवे यहाँ पनप नहीं पाते और यदि पनपे भी तो तुरन्त ही कीड़े उनकी बाढ़ को मार देते हैं। एक शिवटहल अगर युक्तप्रान्त में रहता या जगदेव बिहार में पैदा होता तो एक भंगी का भंगी बना रहता और दूसरा अपना खून सुखा कर किसी तरह जीवन-निर्वाह करता।

जब मैं सन् १९२२ में ट्रिनीडाड और ब्रिटिश गायना गया तब वहाँ के बहुत से अँग्रेज और हब्शी सज्जनों से मेरा परिचय हुआ। यहाँ से गये हुए या वहीं उत्पन्न हिन्दुस्तानियों की आर्थिक दशा के निरीक्षण

का भी मुझे पूरा-पूरा मौक़ा मिला। ब्रिटिश गायना में तो मैंने पाया कि जिस काम को अँग्रेज़, डच, पोर्तगीज़, चीनी और हब्शी नहीं कर सके, उसे हमारे देश से गये हुए 'कुलिया' ने आसानी से कर दिखाया। ब्रिटिश गायना में जहाँ पहले हज़ारों एकड़ ज्वरग्रसित दलदल थे, वहाँ उनकी बदौलत 'शस्य-श्यामल' खेत लहराने लगे। हिन्दुस्तानी किसान की जितनी तारीफ़ मैंने वहाँ के लोगों के मुँह से सुनी, उतनी के सुनने की मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। इनकी वीरता, इनकी धीरता, इनकी गुरुता, इनकी काय-कुशलता का जिक्र हर विजातीय की ज़बान पर था। वहाँ का यह हाल था कि आज का नौकर हिन्दुस्तानी कल अपने मालिक की जमीन का मालिक बन जाता था,—बेईमानी से नहीं, किन्तु अपनी किफ़ायतशारी से; छल कपट से नहीं, किन्तु अपनी महनत-मशक्कत से। इस तरह ब्रिटिश गायना के बहुत बड़े प्रदेश की मिलकियत हिन्दुस्तानियों के हाथ में आई। इसी तरह ट्रिनीडाड में भी तीन चौथाई के करीब जमीन हिन्दुस्तानियों के हाथ में थी।

विचारने की बात है। यहाँ वाले अपने मुल्क से ११, १२ हज़ार मील दूर चले गये। वहाँ उनका कोई पूछने वाला नहीं; कोई साथी नहीं; कोई सहायक नहीं। नया देश, नया कानून, नई रीति-नीति। इनको वहाँ लेजाने वाले व्यापारियों को रुपये कमाने की धुन में मस्त होने के कारण, इनके साथ कोई विशेष ममता नहीं, इन्हें आगे बढ़ाने का उनको कोई खास उत्साह नहीं। वहाँ की भाषा का भी इनको ज्ञान नहीं। हिन्दुस्तान तक इनकी पुकार पहुँचने का कोई साधन नहीं; और अगर पुकार पहुँच भी गई तो उसकी सुनवाई की कोई आशा नहीं। ये कुली तो दुनियाँ के उन अभागों में थे, जिनका गुलाम मुल्क में जन्म हुआ और जिन्हें, सौतेले लड़के की तरह मातृ-भूमि ने घर से बाहर निकाल फेंका और फिर जिनकी सुध तक सदा के लिये बिसार दी। भाग्य के ठुकराये हुए इन बदनसीबों का दुख में कोई साथी नहीं, कोई संघाती नहीं। एक भगवान् ज़रूर थे, लेकिन दुख में वे भी इन्हें भूल-से गये। इतने पर भी इन लोगों ने उस दूर-दराज़ मुल्क में कमाल का जौहर दिखाया और

अपनी मर्दानगी से अपने 'प्रभुओं' को पहले चकित, फिर चौकन्ना और उसके बाद पराजय मानने के लिये विवश कर दिया। यह शक्ति उनमें कहाँ से आई। यह बल उन्हें कहाँ से मिला ? यह पौरुष उन्होंने कहाँसे पाया ? क्या कारण है कि हिन्दुस्तान का कंकड़-पत्थर हिन्दुस्तान के बाहर जा शालिगराम की बटिया बन जाता है ? जिसको लोग यहाँ पैरों से ठुकराते थे, उसी को बाहरी आज आदर से देखते हैं, देखते ही नहीं बल्कि उसका सम्मान करने के लिये मजबूर हो जाते हैं। खून का असर है ? भारतीयता का जादू है, हिन्दुस्तान की मिट्टी की खूबी है ? यदि है, तो क्या वजह है कि हिन्दुस्तान में वह कंकड़ का कंकड़ और धूल का धूल ही बना रहता है ? जिनको हिन्दुस्तान के देहातों को समझने और पहचानने की तमन्ना हो, उनसे मैं कहूँगा कि वे उसे हमारे गाँव के चौपालों और खेतों में न ढूढ़ें। उन्हें तो उन विदेशों में जाना पड़ेगा, जहाँ पर शर्तबन्द कुली-प्रथा के जमाने मे हमारे बिछुड़े हुए देहाती भाई भारत के बन्दरगाहों से जहाजों में भर-भर कर भेजे जाते थे। वहाँ जाकर वे देखेंगे कि हिन्दुस्तानी किसान में ऊँचे उठने की कितनी बड़ी क्षमता है, या उसमें कितनी दिव्य विभूतियाँ हैं। हिन्दुस्तान में यदि सोना उसे छू जाता है तो वह मिट्टी हो जाता है, हिन्दुस्तान से बाहर वह जहाँ कहीं गया, वहीं उसने मिट्टी छुई नहीं कि वह सोना हो गई। वह तो साक्षात पारस-पत्थर है। फिर क्या बात है कि अपने देश में वही पारस-पत्थर अकारथ पड़ा रहता है ? क्या बात है कि बाहर जाते ही उसमें अनन्त काल की संकुचित शक्तियाँ फूट पड़ती और निकट के लोगों को चकाचौंध कर देती हैं ?

इसलिए हम यह कहेंगे कि देहातों की समस्या को हल करने की कोशिश उस समय तक पूरी तौर से कारगर नहीं हो सकती है, जब तक हम अपने देहातों के 'रोग' को ठीक तौर से समझने की कोशिश न करेंगे। अतएव यह जरूरी मालूम होता है कि हम आयरलैण्ड के किसानों की साम्पत्तिक और सामाजिक दशा की तुलना करें और देखें कि कहाँ तक दोनों में समानता है। और कहाँ तक दोनों देशों में समान कारणों से

एक-सी रुकावटें और बाधायें उत्पन्न होती हैं। साथ ही हमारी यह भी सलाह है कि हमारे विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े विद्वान् आचार्य ग्रामीण जीवन का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करें और इस बात का पता लगायें कि उनकी मानसिक बनावट या आध्यात्मिक परम्परा में कौन-सी गुप्त त्रुटियाँ या दोष विद्यमान हैं जिनकी वजह से हमारे गाँव वालों का विकास और संवर्द्धन मारा गया।

'सुधार' तीन प्रकार का होता है। कुछ दिन हुए इसी विषय पर मैं अपने एक मित्र से बातें कर रहा था। बातों ही बातों में मैंने उनसे कहा कि सुधार तीन तरह का होता है। मैंने अपने कथन की व्याख्या भी की। उसी को यदि मैं यहाँ पर दोहरा दूँ तो अनुचित न होगा। मेरा कहना है कि एक तो पागल का ऊपरी सुधार है। मान लीजिये कि एक पागल पागलख़ाने में बन्द है। मलमूत्र से उसके कपड़े समय-समय पर ख़राब हो जाते हैं। बिस्तर भी ख़राब हो जाता है। लेकिन पागल को इसकी कोई चिन्ता नहीं। वह मगन रहता है। उसके संरक्षकों ने जब देखा कि उसके कपड़े ख़राब हो गये हैं तब दौड़ कर उसके कपड़े बदल दिये। बिस्तर को भी बदल दिया। पागल जितना पहले मगन था, उतना ही मगन कपड़े बदलने के बाद भी बना रहा। पहले की दशा से उसको न शोक हुआ और दूसरे से न हर्ष। संज्ञाहीन पागल को भले-बुरे का ज्ञान कहाँ? मैल और सफाई दोनों ही उसकी निगाह में बराबर हैं। यह एक प्रकार का सुधार है। दूसरे सुधार का उदाहरण लीजिये। छोटा बच्चा पागल तो नहीं होता लेकिन अपरिपक्व बुद्धि का अवश्य होता है। उसकी माँ उसको जबर्दस्ती पकड़ कर नहलाती-धुलाती और अच्छे कपड़े पहना देती है। थोड़ी ही देर बाद सफ़ेद कपड़े मैले हो जाते हैं और बाबू साहब के हाथ-पैर बात की बात में मिट्टी से सन जाते हैं। धूल-धूसरित होने पर भी वह उतना ही मगन रहता है जितना वह नहलाने-धुलाने के बाद था। दोनों अवस्थाओं में उसे समान सुख है। उसे सफाई से न खुशी, मैले से न घृणा। सुधार के तीसरे उदाहरण अब देखिये। किसी प्रौढ़ को लीजिये। उसे सफाई की महत्ता मालूम है

न सिर्फ़ उसे सफ़ाई की महत्ता ही मालूम है; किन्तु सफ़ा रहने की और साफ़ कपड़े पहनने की आन्तरिक प्रेरणा भी उसमें मौजूद रहती है। सफ़ाई से जहाँ उसे प्रेम है, वहाँ गन्दगी से नफ़रत भी है। बीमारी की हालत में बस यही चाहता है कि उसके कपड़े मैले न रहें, और उसका बदन भी साफ़ रहे।

ग़रीबी के कारण यदि उसे साफ़-सुथरे कपड़े नहीं नसीब होते तो मजबूरी है; लेकिन मजबूरी की दशा में भी वह चाहता है कि मैले कपड़ों की जगह वह सफ़ेद कपड़े पहने, गन्दा रहने के बजाय वह साफ़ रहे।

पागलखाने में बन्द उदासीन पागल की-सी दशा हमारे देहातों की है। चेतन होते हुए भी वे अचेतन हैं। ऊपरी आँखे खुली हैं लेकिन हीए की यदि फूटी नहीं हैं तो बन्द अवश्य हैं। मनुष्य की ठठरी है लेकिन उस ठठरी के अन्दर बास है, नर की आत्मा का नहीं; किन्तु भाजी या शाक-पात के जीव का। हमारा देहाती तो सचमुच चलता-फिरता कुम्हड़ा है। कुम्हड़े को जितना चाहो उतना साफ़-सुथरा कर दो, या यदि चाहो तो उसे कीच में फेंक दो। उसकी दशा देखकर उसके मालिक या देखने वाले को भले ही हर्ष या विषाद हो लेकिन हमारा देहाती कुम्हड़ा तो वीतराग परमहंस है। ऊपरी टीम-टाम का उसे कोई विचार नहीं क्योंकि वह इसके परे है, कोसों दूर है। क्या हमारे सामाजिक जीवन के इस पहलू पर इस बात से काफ़ी प्रकाश नहीं पड़ता कि हमारे समाज में अंघोरियों का बड़ा मान है, और निर्मलता में नहीं किन्तु गन्दगी में हमें भगवान दिखाई देते हैं? मान लीजिये कि किसी देहात में यह खबर पहुँचे कि महीने में एक बार पड़ोस के स्कूल से लड़के आकर सफ़ाई करेंगे। यह भी मान लीजिए कि लड़के हर महीने में एकबार जाकर गाँव की सफ़ाई भी कर देते हैं। इधर लड़कों ने सफ़ाई की, उधर २९ दिन तक फिर कूड़ा जमा होता रहेगा क्योंकि गाँव की हालत इस समय पागल-खाने के पागल की-सी है। वह तो विरक्त है। उसे सफ़ाई से ममता नहीं, मैले से ग्लानि नहीं। सदियों से वह मैल में रहा है, गन्दा पानी उसने

पिया, गन्दे पानी से उसने अपने बर्तन साफ किये और अपनी रसोई बनाई। पुश्त-हा-पुश्त से पीढ़ी-दर-पीढ़ी गाँववाले खारा पानी पीते चले आये। यही उनके परदादा ने और यही उनके बाबा ने किया। यही उसने देखा कि उसके बाप करते थे। वह क्या बदले? उलट-फेर में खतरा है। नई लीक पकड़ने में जोखिम है। पुरानी लकीर पर गाँवों की अनेक पीढ़ियों से ग्रामीण जीवन की लढ़िया के पहिये अटूट शृंखला में कुहर-मुहर कर लुढ़कते रहे। लढ़िया कभी उलटी नहीं; उसका कोई चाक कभी टूटा नहीं; हाँकने वाले को किसी विपदा का कभी सामना भी नहीं करना पड़ा; फिर क्यों वह पुरानी लीक को छोड़ कर नई लीक को अपनाये?

सुदामा की कथा किसने नहीं सुना। ग्राम-गीतों में भी सुदामा के अनेक गीत हैं। उनमें से एक को हम त्रिपाठीजी के 'ग्राम-गीत' से यहाँ पर उद्धृत कर रहे हैं:—

कृष्ण सुदामा दोनों पढ़ने को निकले,
बाँधे कृष्ण कल्यौवा हो राम।
धीरे धीरे खोलि गठरिया सुदामा,
मूठी भर चना उन फाँके हो राम ॥ १ ॥

छोटे कन्हैया बड़े हैं सुदामा,
छोटे का हिस्सा उन खाया हो राम।
जेहि के दुआरे कान्हा हथिया बँधे रहैं,
तेहि द्वारे कुत्ता बसेरो हो राम ॥२॥

जिनके रहे कान्हा सोने की महलिया,
तेहि घर छानी न छप्पर हो राम।
जेहि की रसोइयाँ कान्हा खिरिया बखिरिया,
तेहि घर फुटहा न दाना हो राम ॥३॥

जेहि के घरे कान्हा सोने के थारा,
तेहि घर मिट्टी का कुम्भा* हो राम।

*कुम्भा—मटकी

यक दिन बोली सुदामा की स्त्री,
जाय कन्हैया जी ते बिनवो हो राम ॥४॥
कैसे के जाउँ रानी मित्र से मिलने,
ना अंग धोती न लँगोटी हो राम।
अचरा फारि रानी उन्हें पहिराइन,
हाथ में कुम्भा पकराइन हो राम ॥५॥
एक खेत में सावाँ के तन्दुल,
मूँठी भर सावाँ उन बाँधा हो राम।
जाय सुदामा पहुँचे कृष्ण दुअरवा,
पठवे राजा दरबनियाँ हो राम ॥६॥
जाइके भीतर खबर जनाओ,
आये हैं मित्र तुम्हारे हो राम।
पूजा करत श्रीकृष्ण मुसुकाने,
आये हैं मित्र हमारे हो राम ॥७॥
कुम्हड़ा मँगाय मोहर भरि रुकमिनि,
दीनी सुदामा के करवा हो राम।
घर कुम्हड़ा लै जावौ सुदामा,
यहि से मिलि हैं अहार हो राम ॥८॥
लै कुम्हड़ा चले मथुरा बजरिया,
बेचिन बनिया के हाथ हो राम।
कुम्हड़ा ले बनिया घर धै आयौ,
सेर भर दैके अनाज हो राम ॥९॥
हँसिया मँगाय कुम्हड़ा चीरेसि जो बनिया,
मोहरैं गईं छितराय हो राम।
जौनहि बटिया चले सुदामा,
मोहरैं दिहिन छिटकाय हो राम ॥१०॥
बटिया चलत आँख मूँदे सुदामा,
आँधरा चलै कैसे बाट हो राम।

पूजा करत श्रीकृष्णजी बोले,
सुनहु बात मेरी रुकमिनि हो राम ॥११॥
जब हम देहैं राज सुदामहिं,
तब ही पैहै अहार हो राम।
नहवाय खवाय पहिराय पितम्बर,
दहिने अंग लिहिन बैठायि हो राम ॥१२॥
मूठी खोलि जब देखी कन्हैया,
पूछैं लागे भाभी कुछ पठयिन हो राम।
एक फंका मारिन दुसर फंका मारिन,
रुकमिनि पकरिन हाथ हो राम ॥१३॥
तीनौ लोक इन्हीं को देहौ,
को अमल रहिहै तुम्हार हो राम।
पहिर पिताम्बर हाथ लिये कुम्भा,
मनहिं चले पछितात हो राम ॥१४॥
जहवाँ हती वह राम मड़ैया,
तहवाँ भूप उतरे आय हो राम।
जहवाँ हतो तुलसी का पेड़वा,
तहवाँ कंचन खम्भ हो राम ॥१५॥
जहवाँ हती मोरि दुर्बल ब्राह्मनी,
तहवाँ खड़ी एक रानी हो राम।
जो गावै यह सुदामा चरित्तर,
होइ दरिद्र सब दूर हो राम ॥१६॥

क्या हमारे बहुसंख्यक देहाती आज भी ऊपर के गीत में वर्णित सुदामा से किसी बात में कम हैं। गाँव के सुदामाओं को करोदनेवाली मूक कंगाली आज भी करोरा करती है। क्षुधा-जर्जरित, त्रसित और दैन्य-दलित देहाती, अपनी दयनीय दशा के सुधारने की लालसा में, आज भी दूसरे के मुँह को सतृष्ण नेत्रों से ताका करते हैं। सुदामा की बर्बादी का कारण भी गीत से स्पष्ट हो जाता है। 'धीरे-धीरे खोलि गठरिया'

उसने 'कृष्ण' के 'मुट्ठीभर चने' फाँक लिए, जिसका परिणाम यह हुआ कि "जेहिके दुआरे कान्हा हथिया रहें, तेहि घर फुटहा न दाना हो राम"। बुभुक्षित की तबाही और उसका लोभ और उस लोभ के कारण चोरी – हमारे सामाजिक जीवन का एक शोचनीय चित्र है। उसे इस विपत्ति में सुधार का कोई रास्ता नहीं सुझाई देता। वह चारों ओर आँखें दौड़ाता है लेकिन उसे कहीं कोई उबरने का सहारा नहीं दिखाई देता। 'कन्हैयाजी ते बिनवौं' की एक क्षीण आशा-मात्र उसके हृदय में टिमटिमा उठती है। शायद दोनों की गुहार को दीनानाथ सुनलें। यदि दीनानाथ गुहार सुनते भी हैं तो 'रुक्मिणी' के हाथ के कुम्हड़े में भर कर मोहरें उसे मिलती हैं। लेकिन वह पागल बावला इतना मूर्ख है कि उसे सेर भर अनाज के बदले बनिये के हाथ बेच देता है। रुक्मिणी रूपी धरती फसलरूपी मोहरें बालीरूपी कुम्हड़े में भरकर किसान को देती हैं—और किसानरूपी सुदामा सेर भर अनाज के बदले में इस कुम्हड़े को बनियाँ के हाथ बेच देता है। रुक्मिणी फिर सड़कों पर मुहरें बिखरा देती हैं। लेकिन तब भी मूख सुदामा, अन्धे की नक़ल उतारने की ठान कर, आँख मूँद कर सड़क से निकल जाता है। हताश कृष्ण उसे राज्य सौंपते हैं ताकि बावले सुदामा को खाने भर को तो जुरने लगे। देहात की मनोवृत्ति पर इस गीत से जो प्रकाश पड़ता है, उससे ग्राम-जीवन की अँधेरे में लुकी-छिपी मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की रूप-रेखायें साफ़ प्रकट हो जाती हैं। इस दीनता, इस अपाहिजपने, इस बेकसी, भोलेपन, असहायता की मिसाल क्या हमें कहीं और भी मिल सकती है? देहाती सुदामा दुनियावी बातों में कितना नादान और नासमझ है। उसे अपने भले-बुरे का कितना कम ज्ञान और अपनी दशा सुधारने में वह कितना अल्हड़ है! अन्धे की तरह इधर-उधर वह भटका करता है। काम की बात से कोसों दूर रहता या भाग जाता है। जीवन उसके लिए एक अनबूझ पहेली है।

एक दूसरा गीत और लीजिए। इसको बहुत ध्यान से पढ़ने की महरबानी कीजिएगा:—

छापक पेड़ छिउलिया त पतवन गहबर।
अरे रामा, तेहितर ठाढ़ी हरनियाँ त मन अति अनमन ॥१॥
चरतै चरत हरिनवा त हरिनी से पूछइ।
हरिनी! की तोर चरहा झुरान कि पानी बिनु मुरझिउ।२।
नाहीं मोर चरहा झुरान न पानी बिनु मुरझिउँ।
हरिना! आज राजा जी की छठी तुम्हें मारि डरिइहैं हो ॥३॥
मचियै-बैठीं कौसिल्या रानी हरिनी अरज करइ हो।
रानी मसवा त सिझहिं रोसइयाँ खलरिया हमे देतिउ ॥४॥
पेड़वा से टँगबइ खलरिया त मन समुझाउब हो।
रानी! हेरि फेरि देखिबै खलरिया जनुक हरिना जीतइ ॥ ५ ॥
जाहु हरिन घर अपने खलरिया नाहि देबहि हो।
हरिनी! खलरी क खँजड़ी मिढ़उबइइ राम मोर खेलिइ हो राम।६॥
जब जब बाजइ खँजड़िया शब्द सुनि अनकइ हो।
हरिनी ठाढ़ि ढँकुलिया के नीचे हरिन क बिसूरइ हो ॥ ७ ॥

हरिनी के रुदन में किसानों की युग-युगान्तर से छिपी हुई नाउम्मीदी का क्रन्दन है। यह हरिनी का रोना नहीं है, यह तो रोना है देहाती जनता का। यह चित्र है सरमायेदारों की खुदगर्जी और कठोरता का। सदियों से देहातों पर ऐसी ही बीती है। कितने गरीबों को बड़ों की 'छट्ठी' की सौगात बनना पड़ा है। जब उन्हें 'खाल' तक नहीं बचती तब वे क्यों पिसें-मरें और दौलत कमायें? हिरनी के गीत में देहातों की अकर्मण्यता का जो कारण हमें मिलता है, वही है हमारी साम्पत्तिक शिथिलता और निर्जीवता की जड़ में! इसलिए रहीम को कहना पड़ाः—

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइ हैं। बनत न लगिहै बेर ॥

गरीबों को इसके अलावा और क्या कह कर सान्त्वना दी जा सकती है, क्योंकि तुलसीदास के शब्दों में "होइ है वही जो रामरचि राखा, को कहि तर्क बढ़ावै साखा"? यह दूसरी बात है कि कबीरदास

सरमायेदारों को नेकराह पर चलने के लिये नसीहत दें और यह कह कर उन्हें धमकायें:—

कबिरा आह गरीब की, हरि सों सही न जाय।
मुई चाम की खाल सों, सार भस्म होइ जाय।

लाख कोई कुछ कहे, जी नहीं भरता। सदियां के बाद सदियाँ बीतीं; हजार, लाख बार पतझड़ हुआ, बसन्त आया, जेठ की धूप तपी और सावन-भादों में मेह बरसा। न जाने कितनी बार धरती फली-फूली, बनी-बिगड़ी, पीढ़ियां पर पीढ़ियाँ आईं और चली गईं; सब कुछ बदला क्योंकि हमारे समाज में—

साँपों को आज़ादी है,
बसे घरों में बसने की।
उनके सर पर ज़हर भी है,
'औ' आदत भी है डसने की॥

फिर क्यों न हम, श्री भगवतीचरण वर्मा के शब्दों में, गाँवों को भू की छाती के उभड़े हुये फोड़े कहें:—

मैं कहता हूँ खँडहर उसको,
पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिसमें भर देती निज धुँधलापन,
असफलता की सुबह-शाम॥
पशु बन नर पिस रहे जहाँ,
नारियाँ बन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना,
यह लोगों का एक काम॥

और इन खंडहरों के रहने वाले पैदा होने के समय से चिता पर पहुँचने तक अपने करम की लढ़िया को निरन्तर चलाते-चलाते अपने भैंसों ही की तरह ऊब-ऊब कर उसासें भरा करते हैं। उस लढ़िया पर बैठा जो ग्रामीण भैंसों को हाँकता है उसका भी हाल वर्माजी से सुन लीजिये:—

है उसे चुकाना सूद कर्ज़,
हे उसे चुकाना अपना कर ।
जितना खाली है उसका घर,
उतना खाली उसका अन्तर ।
नीचे चलने वाली पृथ्वी,
ऊपर चलने वाला अम्बर ।
औ, कठिन भूख की जलन लिये,
पीछे है पशुता का खँडहर ।
दानवता का सामने नगर,
मानव का कृषि कंकाल लिये ॥
चरमर - चरमर - चूँ - चरर-मरर,
जा रही चली भैंसा गाड़ी ॥

यमराज का वाहन भैंसा है। यम के दूतों की फसरी सदा किसान के गले में पड़ी रहती है। फसरी को गले में डाले वह पैदा होता है; फसरी डाले वह जिन्दगी के दिन किसी तरह काटता है; और जब निश्चय तिथि आ जाती है तब उसी फसरी से खींच कर यम के दूत उसे अपना क़ैदी बना घसीटते हुए यमपुरी को चल देते हैं।

इतिहास में मैंने पढ़ा है कि जब-जब परदेशियों ने भारत पर हमला किया है तब-तब एक ओर फ़ौजें लड़ा करती थीं और दूसरी ओर किसान अपने खेतों को जोता करते थे।

कोउ नृप होग हमें का हानी,
चेरी छाँड़ि न होवै रानी ॥

कोई राज्य करे बेचारे किसानों को इससे क्या सरोकार? यहाँ का तो यही हाल रहा। इसकी तुलना योरुप से कीजिये। वहाँ के—आज-कल के योरुप के नहीं, किन्तु मध्य कालीन युग के योरुप के—इतिहास के पृष्ठों को पलट आइये, तब आपको पता लगेगा कि वहाँ के किसान देश के भाग्य के निपटारे के मामलों में कितने सतर्क रहते थे। उनको तो

मालूम था कि अगर दूसरों का राज्य हो गया तो उनका सर्वस्व लुट जायगा। हिन्दुस्तान में सिकन्दर के समय से जाने कितनी बार रणचंडी का ताण्डव हुआ और नरपुंगवों के खूनसे धरती लाल होगई। अनगिनती आदमी खेत आये और रक्त की नदियाँ बहीं, लेकिन किसानों को न कोई चिन्ता थी और न कोई परवाह! वे तो खेत के जोतने में मगन रहे। उन्हें चिन्ता हो कैसे, और क्यों वे अपनी गर्दन कटाने को तैयार होते, जब गद्दी पर बैठने वाले और उनके सरदार या अमीर-उमरा उनको लूटने में सदा लीन रहते थे? उनकी बर्बादी में परदेशी और स्वदेशी का एक-सा हाथ रहा और उनकी कमाई के मीठे फल को लूटने की सबको एक-सी लिप्सा सताती रही? सदियों की लूट-खसोट ने उनको काम की निःसारता का पाठ पढ़ाया। स्वदेशी की बेरहमी ने उन्हें परदेशी की गुलामी के अपमान को भुला दिया। अहलकारों की मनमानी घरजानी ने उनकी निगाह में कानून की महत्ता को मिटा दिया। सन्तों और फ़कीरों ने उन्हें 'करम' का पाठ पढ़ा कर सदा के लिए निकम्मा बनाया। शंका संशय, अविश्वास उन्हें आठों पहर घेरे रहते हैं, मट्ठा फूँक-फूँक पीता है। हमारे देहाती तो सदियों से जलते चले आये हैं। 'अरि, मित्र, उदासी' में उन्हें कोई भेद नहीं दिखाई देता। अपनों ने उन्हें खूब फुसलाया, बहकाया और छला। अपने पराये बन गये और पराये तो पराये थे ही।

अपना न हुआ अपना,
बेगाने को क्या कहिये।

बराबर लोगों ने उन्हें मूड़ा, इसीलिये दूसरों की नेकनीयती में उनका विश्वास नहीं रहा। बराबर भटिलाये जाने से अपनों से भी विश्वास उठ गया।

चुनाव के सिलसिले में लोगों ने देहातों की सैर की है या जो सार्वजनिक जीवन के नाते किसानों के बीच में बराबर आते जाते रहते हैं, उनको इसके बताने की जरूरत नहीं है कि देहातियों के दिलों में सफ़ेद-पोशों का कितना कम विश्वास है। उनकी सद्भावना और नेकनीयती का

कितना भरोसा है। मैं अपनी या अपने दोस्तों की बीती का ज़िक्र न करूँगा क्योंकि हम लोग राजनीतिक आदमी हैं। और बहुत सम्भव है कि पाठकों को यह भ्रम हो कि हमारे राजनीतिक होने की वजह से गाँव वालों को हम लोगों के विषय में यदाकदा इस तरह की भ्रान्ति हो जाती हो। इसीलिये पंडित रामनरेश त्रिपाठी के अनुभव का, उन्हीं के शब्दों में वर्णन पाठकों के मनोरञ्जनार्थ दिया जाता है:—

"अब एक सामाजिक कठिनाई का ज़िक्र सुनिये। देहात के लोग बहुत बेकार रहते हैं। काम के दिनों में भी दोपहर के बाद उनका सारा वक्त किसी चौपाल में बैठकर गप्प हाँकने, एक दूसरे की निन्दा करने और तम्बाकू खाने और पीने में जाता है। मैं भी उन्हीं में जा बैठता। पर मेल नहीं मिलता था। वे बेचारे एक मैली-सी धोती पहने नंग-धड़ंग बैठते थे। उनके बीच में मैं सफ़ेद धोती, कुरता और टोपी पहन कर बैठता था। काम भी क्या गीत-संग्रह; जो बहुत से शिक्षित कहे जाने वालों की दृष्टि में तो वह एक मज़ाक के सिवा और कुछ है ही नहीं। मेरे इस काम का महत्त्व समझना उनकी बुद्धि से बहुत दूर था। इसी-लिए मन म पैदा हुए कौतूहल की पूर्ति के लिये उनको नई-नई कल्पनायें करनी पड़ती थीं। कोई कहता बाबू जी किसी और मतलब से देहात में आये हैं। कोई कहता-'अरे यह ख़ुफ़िया पुलिस का कोई दरोग़ा है। किसी बदमाश का टोह लेने आया है।' कोई कहता बाबू साहब औरत की तलाश में आये हैं। कोई खूबसूरत औरत या लड़की देखेंगे तो ले भागेंगे। कोई कहता-'अरे ये शहर में कोई कुसूर करके भगे हैं, देहात में हज़रत छिपे-छिपे फिर रहे हैं।' इसी प्रकार तीरों का निशाना बनकर मैं गाँवों में रहता था।"

जब ग़ैर सरकारी आदमियों की यह हालत है तब सरकारी मुला-ज़िमों के विषय में देहातियों का क्या ख़याल हो सकता है। इसका अन्दाज़ा लगाना आसान है। यह भी याद रहे कि आजकल के सरकारी मुलाज़िमों के पीछे उनके पूर्वजों की अनन्त पीढ़ियाँ खड़ी हैं।

जिनसे हिन्दुस्तान में व्यवस्थित शासन की स्थापना होने के समय गाँववालों के पूर्वजों को पाला पड़ता रहा। न जाने कितनी बार आज-कल के किसानों के पुरखों को इन अहलकारों के पूर्वगामियों ने झाँसे दिये होंगे और ऐसी-ऐसी पट्टी पढ़ाई होंगी कि गाँववालों के अन्तस की अज्ञान तह में उनकी याद अब तक मौजूद है। आज भी तो घर लौटने ही पर किसान को पता चलता है कि जिसने उससे अदालत या 'साहब' के बँगले पर मीठी-मीठी बातें की थीं, उसी ने उसकी जेब भी कतरी और बाल भी उलटे उस्तरे से मूड़ लिये।

एक पहलू से गाँव की दो तसवीरें पाठकों को ऊपर मिलेंगी, लेकिन अगर हम जिस टीले पर अब तक खड़े थे उस पर से उतर कर दूसरे टीले पर चढ़ जावें तो हमें ग्रामीण जीवन की दो एकदम नई किन्तु बेजोड़ तसवीरें दिखाई देंगी। रेल पर बैठ कर सफर करते हुए पटरी के दोनों तरफ़ हम सबने न जाने कितनी बार मनको हरने-वाली, कितनी बार मनको लुभानेवाली तसवीरें देखी हैं, बरसात में पानी से लबालब भरे हुए तालाब और खेतों में धानों की हरियाली, जाड़े में मटर, चने और सरसों के फूलों के रंगों की अद्भुत बहार, फागुन में टेसू के लाल-पीले अङ्गार के समान फूल, वैसाख में आम के बौरों की मदमाती सुगन्ध! जिस समय सूरज धीरे-धीरे आकाश से बिछुड़ने लगता है और विदा होने के पहले उसके मुँह को अपने चुम्बन से लोहित कर देता है, उस समय गोधूल की बेला में गाँव को लौटती हुई गायों, भैंसों और बछड़ों की उत्सुकता-भरी गति को देखकर कौन मोहित न हो जायगा? सूर्योदय के समय गाँवों में जो अनन्त सुगन्धों से लदी-फँदी हवा चलती है या पेड़ों पर चिड़ियों के अनगिनित प्रकार के कलरव सुनाई देते हैं, उन से ग्रामीण जीवन में अनूठी ही छटा छा जाती है। इसका वर्णन करना असम्भव है। "गिरा अनयन, नयन-बिनु बानी"; वर्णन कोई करे तो कैसे करे? गाँवों के छप्पर हमें वनों और पहाड़ी गुफाओं के बासी ऋषियों की उन पर्णकुटियों और आश्रमों की याद दिलाते हैं जो हमारी सांस्कृतिक स्मृतियों के अटूट अंग हैं। कुशों के छप्पर हमें आज भी

याद दिलाते हैं पर्णकुटियों की। हमारी आँखें इस बीसवीं सदी में भी ललचाई हुई हठात् इधर-उधर ढूँढ़ने लगती हैं ऋषि कण्व, शकुन्तला और प्रियंवदा को। गाँव के मन्दिरों या तालाबों के किनारे के बरगदों को देखकर जो अनिर्वचनीय स्मृतियाँ और भावनायें हमारे हृदयों में जग उठती हैं वे इस बात की सचाई की प्रमाण हैं। हमारे हृदय की आँखें आज भी रेल के डिब्बे से गाँवों को देखती हैं सही; किन्तु देखती हैं उस रूप में जिस रूप में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी ने उन्हें देखा था या भगवान् रामचन्द्र ने लक्ष्मण और सीता के साथ अपनी वन-यात्रा में अपने पद-रज से पुनीत किया था या भगवान् बुद्ध ने अपने अनेक वर्षावास बिताये थे।

लेकिन देखने में जो इतने सुहावने हैं, जिनसे जातीय जीवन के अनन्त संस्कार कल्पना-द्वारा उत्तेजित होकर सुख-सुषमा का मनोमोहक चित्र देखते हैं और जो रेल के डिब्बे से हमें इतने मोहक और सुन्दर मालूम होते हैं, वास्तव में वे न उतने सुन्दर हैं और न उतने सुखकारी हैं। वे तो मौत के घर हैं। वहाँ तो मृत्यु अनन्त रूप में छिपी बैठी है। लुक-छिप कर कोने अतरे से झाँका करती है। वहाँ कंगाली है, वहाँ पशुता का वास है, वहाँ निराशा और विषाद है, गंदगी है, वहाँ जीवन का ह्रास और आत्माओं का कुण्ठन है। अशोक के राजप्रासाद, हर्ष की अतुल दानशीलता, अकबर के किले और शाहजहाँ के ताजमहल को देखकर हमें यह समझना चाहिये कि उन दिनों ग्रामों की दशा आजकल की तुलना में कुछ बदली हुई थी। क्रमिक उलट-फेर समय की गति के साथ आवश्यक होता रहता है। लेकिन गाँव बहुत अंशों में जैसे अब हैं वैसे ही पहले भी थे। उनकी हीनावस्था के कारण अब चाहे पहले से भिन्न हो गये हों लेकिन परिणाम एक-सा ही है।

संस्कृत-कवियों ने देहाती जीवन के जो वर्णन दिये हैं उनमें से कुछ से पहले परिचय प्राप्त कर लीजिए:—

(१) 'लड़के भूख से व्याकुल होकर मुर्दे के समान हो गये हैं। बांधव विमुख हो गये हैं। हाँड़ी के मुँह पर मकड़ी ने जाला तान दिया

है। ये सब मुझे उतना कष्ट नहीं देते, जितना कष्ट पड़ोसिन का वह व्यवहार देता है कि जब अपनी फटी धोती को सीने के लिये मेरी स्त्री उससे सुई माँगती है तब ताने से हँसकर क्रोध करती है।'

(२) 'यह वस्त्र मेरे पिता के शरीर का भूषण रहा है। जब यह नया था, तब पितामह ने इसका उपयोग किया था। अब यह मेरे पुत्र और पौत्रों को अलंकृत करेगा। मैं इसे फूल की तरह ही सँभाल कर रखता हूँ।'

(३) 'रास्ते में किसी ने जोर से लावा कहा। गृहिणी ने उदास मुख से बच्चे का कान यत्नपूर्वक बन्द कर लिया, जिससे भूखा बच्चा लावा का नाम न सुन सके, नहीं तो वह माँगने लगेगा। मैं निरुपाय था, यह जान कर गृहिणी की आँखें भर आईं। यही मेरे हृदय का काँटा है। हे भगवान, तुम्हीं उसे निकालने में समर्थ हो।'

(४) 'हे बेटा, मत रोओ। तुम्हारे पिता जब आयेंगे और जब तुम्हें वस्त्र-रहित देखेंगे तब तुमको वस्त्र और माला देंगे। ग़रीब पति झोंपड़ी के पास खड़ा था। स्त्री का ऐसा वचन सुनकर उसने दुःख की साँस ली। आँसू से उसका मुँह भीग गया और वह फिर लौट गया।'

(५) 'हे नाथ, गुदड़ी का एक टुकड़ा मुझे दो। इस बालक को तुम्हीं गोद में लेलो। आपके नीचे पयाल है, यहाँ की जमीन खाली है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष रात में बातें कर रहे थे। उसी समय वहाँ कोई चोर घुसा हुआ था। यह बातें सुनकर दूसरी जगह से लाये हुए वस्त्र को वह उनके ऊपर फेंक कर रोता हुआ घर से बाहर निकल गया।'

(६) 'वृद्ध और अन्धा पति खाट पर पड़ा हुआ था। छप्पर में थून ही थून शेष है। चौमासा सिर पर है। परदेश गये हुए पुत्र का कुशल-क्षेम भी नहीं मिल रहा है। बहुत यत्न से एक-एक बूंद करके एकत्र किये हुए तेल की कुल्हिया भी टूट गई। इस प्रकार से आकुल-व्याकुल होकर चिन्ता करती हुई और अपनी पुत्रवधू को गर्भ के भार से मन्द देख कर सास देर तक रोती रही।'

(७) 'मेरे घर में (आहार न मिलने से) नन्हीं चुहिया-जैसी तो

मूषिका, मूषिका-जैसी बिल्ली, बिल्ली-जैसी कुतिया और कुतिया-जैसी मेरी स्त्री है। औरों की तो बात ही क्या ? इस प्रकार प्राण छोड़ते हुए बच्चों को देखकर मकड़ी के जाले से ढके हुए मुँहवाली चूल्ही झींगुर के स्वर से रो रही है।'

(८) 'हे राजा, रात में मेरा घर जल से पूर्ण तालाब की तरह हो जाता है। उसमें पीढ़े तो कछुओं की तरह, झाड़ू मछली की तरह तैरने लगती है। कलछी साँप की तरह चेष्टा करके बच्चों को भयभीत करती है। स्त्री सूप से आधा सर ढक लेती है और दीवार गिरने वाली है।'

ऊपर के कुछ श्लोकों के भावों में ग्रामीण जीवन के जो चित्र अंकित हैं, उनको कवियों की अतिशयोक्ति न समझिये। आज दिन भी देहातों की कंगाली और बर्बादी का वैसा ही हाल है। प्रान्तिक एसेम्बली के पिछले चुनाव के समय एक महिला को किसी गाँव में जाना पड़ा। वहाँ उस देवी को यह मालूम हुआ कि उसके कुछ वोटरों के पास रात को जाड़ा काटने के लिये ओढ़ने को नहीं है; इसीलिये पयाल में घुसकर वे रात काटते हैं। करुणा से द्रवित होकर देवीजी ने कुछ कम्बल बाँटे। घर-घर कच्ची गृहस्थी है, और अधिकांश का पतला हाल है। किसी देहात मे आप जांय तो आपको पता चलेगा कि एक धोती ही में न जाने कितने प्राणी बरसों अपने अंग ढकते हैं। एक बार मैं देहात में एक महिला के साथ व्याख्यान देने गया। रास्ते में अनेक देहातिनें दिखाई दीं। उनको देखकर महिला की आँखों में आँसू आ गये। बार-बार उनके मुँह से यह हठात् निकल पड़ा कि 'हाय, कंगाली के कारण ये जवानी ही में बुढ़िया होगईं।' उनके पचके हुये गाल, उनकी धसी हुई आँखें, उनके थकावट से शिथिल अंगों को देखकर आँखों से आँसू बरसने लगे। इसीलिये ऊपर के उद्धरणों में कवियों ने जो कुछ कहा है, वह सोलह आने सत्य है। गाँवों के दारुण, दुःसह दुख में इतनी शक्ति है कि पत्थर भी पिघल जाँय। लेकिन हमारी कमबख्ती है कि हम सब देखते-सुनते हैं। सब कुछ जानते भी हैं, किन्तु टस से मस नहीं होते, जूँ भी नहीं रेंगती। हम अपने क्षुद्र स्वार्थों

और हितों में इतने लिप्त हैं कि हम यह भूल जाते हैं। व्यक्ति की खुशहाली में नहीं परन्तु समाज की समृद्धि में व्यक्ति की असली, भलाई है। हमारी रोटी और हमारे कपड़े हमें क्यों नहीं काटने दौड़ते जब देहात में रहने वाले असंख्य प्राणी भूख से तड़पा और चिथड़ों के लिये व्याकुल घूमा करते हैं—यही अचरज की बात है!

हिन्दी के अनेक कवियों ने भी ग्रामों का वर्णन बड़े मर्मभेदी शब्दों में किया है। बहुत-से उद्धरणों की यहाँ आवश्यकता नहीं। 'ग्राम गीत' से यहाँ पर दो का उद्धृत करना काफ़ी होगा।

(१) गड़ि जात बाजी और गयन्दगन अड़ि जात।
सुतुर अकड़ि जात मुसकिल गऊ की॥
दामन उठाय पाय धोखे जो धरत होत।
आप गरगाप रहि जात पाग मऊ की॥
बेनी कवि कहै देखि थर-थर काँपै गात।
रथन के पथ ना विपद बरदऊ की॥
बार-बार कहत पुकार करतार तोसों,
मीच है कबूल पै न कीच लखनऊ की।

(२) धै देत्यो राम हमारे मन धिरजा,
सबके महलिया रामा दिअना बरतु है।
हरि लेत्यो हमरो अंधेर। हमारे०॥
सबके महलिया रामा जेवना बनतु हैं,
हरि लेत्यो हमरो भूख। हमारे०॥
सबके महलिया रामा सेजिया लगतु है,
हमरो हरि 'लेत्यो नींद। हमारे०॥

'धै देत्यो राम हमारे मन धिरजा'! यदि देहाती के होठों पर राम से यह माँग हो, तो कौन-सी अचरज की बात है।

युगों की पगडंडी पर चलकर यदि हम भारतीय इतिहास के विकास-क्रम को देखें और साथ ही यह याद करें कि कितने सहस्र वर्षों

से हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम से विदेशी सेनाएँ मार-काट करती हुई अनेक बार आईं, और यह भी याद करें कि देश के अनेक छोटे-बड़े राजा-राव आये दिन किसी दूसरे पड़ोसी राजा की कन्या के रूप का हाल सुनकर उसको हर लाने की नीयत से अपनी फौजें लेकर निकल पड़ते थे, या राजसूय यज्ञ करने के लिये चक्रवर्ती राजा की दिग्विजय करने वाली सेनाओं की याद करें, तो हमें इस बात का सही-सही अन्दाजा लगेगा कि भारत के किसानों के मन में संसार की निःसारता और काम की असारता ने क्यों इतना गहरा घर कर लिया है। परदेशी फ़ौजों ने लूटा, परदेशी राजाओं ने लूटा, अपने राजाओं और जमीदारों ने उसे लूटा। यह हाल अनगिनती सदियों से होता चला आया है। चोरों, डाकुओं, लुटेरों और ठगों का दिन-रात भय उसे ऊपर से सताता रहा। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' इसको देहाती बहुत अच्छी तरह समझते हैं। जिसकी कमर में बल था और हाथ में ताक़त थी, उसको एड़ी और चोटी के पसीने को एक करने की क्या ज़रूरत थी; और कमज़ोर को कमाने का क्या चाव हो सकता है, जब उसे मालूम है कि जो कुछ वह दिन भर में कमायेगा उसे साँझ को दूसरा हर ले जायगा? पेट भर खाना यदि मिल जाय, तो बहुत है। न मिले तो भी वह भगवान् का नाम लेकर धीरज धर लेता है। कहो, कैसे कमाये, किसके लिये कमाये? इसीलिए उसने लक्ष्मी से मुँह मोड़ लिया और तरह-तरह के गीत बना कर अपने मन को फुसलाने लगा। इस दुनियाँ से उसने मुँह मोड़ा और नाता जोड़ा ख़्वाब की दुनिया से। यदि कश्मीर में एक यह गा कर मन बहलाता है—

'कर्म खाव दर्म खोरन त्राव।
गछआत्मतीर्थ तन मन नाव॥
बखज सर प्रयम पोञा छाव।
न्यंदर मों त्राव न्यंदर मों त्राव॥'

अर्थ—'कर्म की खड़ाऊँ धर्म के पाँव में पहन कर आत्मा के तीर्थ में चलो। भक्ति के तालाब में प्रेम के पानी से तन-मन को धोओ। उठो

नींद को छोड़ो।' तो संयुक्त-प्रान्त में दूसरा यह गाकर अपने मन को बहलाता है:—

अल्ला मेरे आवेंगे मुहम्मद आवेंगे।
आगे गंगा थाम ली, जमुना हिलोरे लेय।
बीच खड़ी बीबी फ़ातिमा, उम्मत बलैया लेय।
उतरा पसीना नूर का, हुआ चमेली फूल।
मलिनियाँ गूथै सेहरा, दूल्हा बने रसूल।

दुनियाँ में देहाती की उदासी की तह में क्या है? सुदामा की कहानी क्यों गाँव के बच्चे-बच्चे को याद है? आत्मा का कौन-सा छिपा हुआ तार इस कहानी से बज उठता है? अवतारवाद हमारे ऊपर क्यों इतना हावी हो गया है? ज़ख्मी और खदेड़ा हुआ शिकार भयभीत और सशंकित, शिकारी कुत्तों से अपने प्राणों को बचाने के लिये कोशिश तो करता है लेकिन घिर जाने पर उसकी आँखों में जो बेकसी, जो पीर, जो विनती और जो दर्द भर आता है, वही दर्द, वही पीर, वही शिथिलता, और वही निराशा और वही अन्धकार हमारे देहात के रहने वालों की निगाह में आपको मिलेगी। सदियों से उनकी आत्मायें छटपटाते-छटपटाते थक गईं, अब उनमें छटपटाने की शक्ति भी नहीं बच रही है। संसार की ओर से उन्होंने मुँह मोड़ लिया। विफल मनोरथ होकर, ग्लानि और संताप से भीतर ही भीतर वे कुढ़ती रहती हैं, और कछुवे की तरह अपनी खोल के अन्दर सिर और पैर सिकोड़ कर वे निश्चेष्ट पड़ी हैं। तन पर धूल है तो क्या, या नहीं है तो क्या, दोनों उनके लिये बराबर हैं। दोनों ही दशा में वे एक-सी उदासीन बनी रहती हैं। पागलखाने के 'पागल' की तरह ग्रामीण आत्मा को इस बात की खबर तक नहीं कि उसके लिये सफ़ाई भी अनिवार्य है। सुधारने और सँवारने के लिये सुधारक भले ही उनके गन्दे कपड़े को उतार कर उसको स्वच्छ कपड़े पहिनाने की चेष्टा करें। जिस तरह सदियों से कंगाल की कंगाली का अन्त सदावर्त से नहीं होता, वैसे ही

मन के रोगी का रोग भी केवल ऊपरी उपचार से नहीं हटता। देहातियों को अकेली तन की व्याधि ही नहीं सताती, मन की व्याधि से भी वे पीड़ित हैं; और यह मन की व्याधि दो-चार दिन की बात नहीं है। यह सदियों की पुरानी है। युगों से इसने आत्मा में घर कर लिया है। इस व्याधि की दवा करना जरूरी है, यही असली इलाज है।

—श्री वेंकटेशनारायणतिवारी

साहित्य-निर्माण का लक्ष्य

आज चारों ओर से अन्नाभाव, अकाल, महामारी और युद्ध-विग्रह की खबरें आ रही हैं। इन भयंकर क्लेशकर समाचारों को हमने इतना सुना है कि अब संवेदन भी थोथा होगया है। अब हम पाँच लाख मनुष्यों की मृत्यु के समाचारों को इस प्रकार सुनने लगे हैं मानों यह कोई अत्यन्त मामूली बात हो। बार-बार आघात खाने के बाद हमारे संवेदन के सुकुमार तंतु जड़-से हो गए हैं। प्रतिदिन केवल मृत्यु केवल हाहाकार, केवल भूख की मार सुनना न जाने किस पुराकृत पाप का परिणाम है। इन समाचारों और घटनाओं की रेल-पेल में एक नया समाचार जोड़ भी दिया गया तो विशेष लाभ नहीं, न जोड़ा गया तो भी कोई हानि नहीं। इसलिए नई बात सुनाने का न तो समय है और न प्रयोजन। परन्तु पुरानी बातों का भी महत्त्व है। जिस दुष्काल में हम वास कर रहे हैं उसमें वर्तमान ही सबसे महत्त्वपूर्ण काल है। हमारी उलझी हुई क्लान्त दृष्टि सामने जो कुछ पड़ा है उसे भेद करके न तो अतीत की ओर जाने का अवकाश पाती है और न भविष्य की ओर बढ़ने की शक्ति। फिर भी यह सत्य है कि आज जो कुछ हो रहा है उसका प्रभाव भी आगामी कल पर अवश्य पड़ेगा। हमारा वर्तमान निश्चय ही बहुत जटिल और कठोर है परन्तु कहीं न कहीं बैठकर हमें इस बात पर विचार करना ही होगा कि क्यों हम ऐसे दुर्भाग्य के शिकार हो रहे हैं। विधाता के नियम बड़े कठोर हैं। पाप का फल भोगना ही

पड़ता है। अधर्म किसी को बड़ी देर तक फलता-फूलता नहीं रहने देता। शास्त्रकार ने बताया है कि अधर्म से थोड़ी देर तक आदमी फलता-फूलता फिर कुछ सुख भी भोगता है और थोड़ी देर के लिए अपने शत्रुओं को दबा भी देता है पर अन्त में जड़ और मूल के साथ नष्ट होजाता है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति,
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।

हम अपनी आँखों के सामने मदगर्वित राष्ट्रनायकों का पतन देख रहे हैं। निरीह जनता के रक्त से लथ-पथ चरणों का भागना इस वीभत्स हाहाकार के बीच भी कौतुक उत्पन्न किए बिना नहीं रहता। समूची मनुष्यता किसी भारी पाप के प्रायश्चित में लगी है। आज हम स्वीकार करते हैं, कि हम भारी कष्ट में हैं तो भी हमें यह भी मानना पड़ेगा कि विधाता के निष्ठुर नियमों का प्रहार हमारे ऊपर हो रहा है। हमें धीर भाव से अपने पुराने कार्यों का अध्ययन करना होगा। दूसरों पर दोषारोप करने के पहले हमें अपनी ओर भी देख लेना चाहिए।

साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानवजीवन है। कविवर रवीन्द्र-नाथ ने एक पौराणिक आख्यान को लेकर एक कविता लिखी है। वाल्मीकि को क्रौंच मिथुन के कष्ट से आम्नाय से भिन्न नवीन छन्द रूप सरस्वती का साक्षात्कार हुआ था। यह कहानी सबकी जानी हुई है। वाल्मीकि छन्द तो पागए थे पर उन्हें विषय नहीं सूझ रहा था। वे उन्मत्त की भाँति घूम रहे थे। छन्द जैसा अमूल्य धन पाकर उसके उपयुक्त विषय न पा सकना कितने दुख की बात है! ऐसे अनेक तरुण साहित्यक होंगे जिन्हें छन्द तो मिल गया है पर विषय नहीं मिला है। वे उन्मत्त घूम रहे हैं कि नहीं, पता नहीं, पर उन्हें उपयुक्त विषय की खोज में पागल हो जाना चाहिए था! वाल्मीकि होगए थे। इसी समय नारदमुनि से उनका साक्षात्कार हुआ। नारद ने बताया कि हे ऋषे, तुमने जो अमूल्य छन्द पाया है उसको यों ही मत नष्ट होने दो उससे कुछ काम कर जाओ। वाल्मीकि हैरान। क्या करूँ इस छन्द को लेकर।

नारद ने बताया कि अब तक देवताओं को मनुष्य बनाया जाता रहा है, तुम मनुष्य को देवता बनाओ ! मनुष्य को देवता बनाना ही छन्द का काम है। वाल्मीकि ने वैसा ही किया था। मैं नहीं जानता कि इस समय ऐसा छान्दस उन्माद किसी युवक में है या नहीं, हो तो उसे नारद का संदेश ध्यान से सुनना चाहिए। साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य मनुष्य को देवता बनाना है। मनुष्य को देवता बनाने के उद्देश्य से ही हमें काम करना है। हमें उसको प्रत्येक समस्या के सम्मुखीन होना होगा। साहित्य कोई वाग्विलास का संकीर्ण क्षेत्र नहीं है। मैं इतना कहना भूल रहा हूँ कि छन्द पाकर एक प्रकार का उन्माद स्पृहणीय है, उसी उन्माद से वाल्मीकि ग्रस्त थे। वह उन्माद है उपयुक्त विषय पाने की छटपटाहट और उपयुक्त विषय है मानव जीवन को उन्नत करना और देवोपम बना देना। पर एक उन्माद और भी है। शास्त्रकारों ने उसकी भी दवा बता दी है। वह उन्माद स्वयं छन्द के गढ़ने का है। कोई विषय नहीं है, या अत्यन्त मामूली बात है उसी पर कविजी छन्द का डंड-बैठक कर रहे हैं। शब्दों को ऐसा रगेदते हैं कि उनकी जान ही निकल जाती है। वस्तुतः वातग्रस्त लोग इस प्रकार के उन्माद के शिकार हो जाते हैं। एक ऐसे ही कवि से किसी ने पूछा कि "भई, तू कविता करता है ? तेरे क्या कोई दोस्त-मित्र नहीं हैं जो तेरे बढ़े हुए वाई के रोग को समझें और तुझे इस काम से अलग रखने का उपाय करें। भई, तू किसी घर के खिड़की-दरवाजे बन्द कर उसीमें चुपचाप पड़ा रह और गाय का घी पिया कर। इस बात का ध्यान रख कि किसी तरफ़ से वायु न लगने पावे। जिनका वात रोग बढ़ जाता है वे ही तेरे जैसे कवि हो जाते हैं—

> काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति
> ये त्वामुदीर्णपवनं, न निवारयन्ति।
> गव्यं घृतं पिब निवात-गृहं प्रविश्य
> वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति॥"

मैं आशा करता हूँ कि आज का युवक समुदाय इतना समझदार

अवश्य है कि वह केवल छन्द के लिए छन्द नहीं लिखता और यह जानता है कि मनुष्य समुदाय को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही उसका प्रथम कर्तव्य है। गद्य, पद्य तथा कहानी, नाटक, चित्र, मूर्ति इत्यादि उसी महान उद्देश्य के साधन मात्र हैं। साहित्य इसलिए बड़ा नहीं है कि उसमें गद्य पद्य, छन्द तथा कहानी होती हैं, बल्कि इसलिए बड़ा है कि मनुष्य को उन्नत और विशाल बनाता है, उसको मोह और कुसंस्कार से मुक्त करता है, उसे धीर और परदुःखकातर बनाता है। तुलसीदास ने ऐसा ही साहित्य लिखा है, कालिदास ने ऐसा ही साहित्य लिखा है और हमारा भी लक्ष्य ऐसा ही साहित्य होना चाहिए। साहित्यकार अपना विषय मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को बनाता है। वह विधाता की भाँति सजीव सृष्टि करता है। पुराने पंडित ने बड़े अफ़सोस के साथ कहा था कि आज अचानक मिले हुए दो-चार पदों को जोड़-बटोर कर लोग कवि बन जाते हैं और बड़े-बड़े उन कवियों की तुलना में अपने को बैठाने लगते हैं जो सजीव सृष्टि करके मानव जीवन को विशाल और उन्नत बनाते हैं। यदि यही हालत रही तो कौन जाने इस कुटिल कलिकाल में आज या कल कब वह दिन आ जायगा जब घड़ा बनाने वाला कुम्हार त्रिभुवन बिधाता से कलह कर बैठेगा।

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्द्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्यश्वो वा किमिहि बहुना पापिनि कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः॥

शक्तिशाली के पास अगर उदार हृदय और विशाल चरित्र-बल न हो तो उसकी शक्ति संसार को नष्ट-भ्रष्ट करने में ही लगती है। राम और रावण में यही अन्तर था कि यद्यपि शक्ति दोनों में ही थी तोभी राम का हृदय उदार था और चरित्र-बल विशाल था, जब कि रावण में ये दोनों गुण नहीं थे। एक ने राम-राज्य की स्थापना की जो आज भी हमें उत्साह और बल देता है। और दूसरे ने रावण राज्य स्थापित

किया था जिसकी स्मृतिमात्र से मनुष्यता काँप उठती है। विज्ञान एक बड़ी भारी शक्ति है, आज तक मनुष्य ने इतने बड़े शक्तिशाली साधन का सहारा नहीं लिया था। जिसके हाथ में यह महान अस्त्र है उसमें भी उदारता और चरित्र-बल होना चाहिए था। परिणाम देखकर हम निःसंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि ये दोनों बातें उन लोगों के पास नहीं हैं जो इस महान शक्तिशाली अस्त्र का प्रयोग कर रहे हैं। अगर उसमें थोड़ी-सी भी उदारता और चरित्र-बल होता तो संसार इतना नरक-कुण्ड न बन जाता। पेड़ की पहचान फल से होती है। फल निश्चय ही जहरीला और इसीलिए जिस पेड़ पर यह लगा है उसे हम 'अमृत-कल्प-तरु' नहीं कह सकते। हमें धीर भाव से विवेचना करनी होगी कि क्यों शक्तिशाली लोगों का हृदय परिवतन नहीं हुआ? और साथ ही हमें यह भी विचार करना होगा कि साहित्य के वे स्रष्टा जो विश्व को सरस, स्निग्ध और उदार बनाने का कारबार करते रहे हैं वे क्या अपना कतव्य-पालन कर सके हैं। क्या साहित्यकारों ने विज्ञान की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर उसके साथ सामंजस्य रखते हुए कदम बढ़ाया है? मेरे चित्त में यह प्रश्न बराबर उठते रहते हैं। मैं जानता हूँ कि संसार में ऐसे साहित्यकारों की कमी नहीं है जिन्होंने पुकार-पुकारकर कहा है कि विज्ञान के द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य की भीतरी शक्तियों के उद्बोधन का सामंजस्य होना चाहिए, जिन्होंने संकीर्ण राष्ट्रीयता और मोह-ग्रस्त जाति-प्रेम को संसार का अभिनव अभिशाप बताया है, जिन्होंने अन्धाधुन्ध बढ़ने वाली अनियन्त्रित उत्पादन-व्यवस्था को नाशकारी बताया है परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि उनकी आवाज ऊँचे सिंहासनों तक नहीं पहुँची है, उनकी वाणी को शक्ति-मद-गर्वितों ने उपहास का पात्र समझा है। महापुरुषों ने इसकी परवाह नहीं की है। हमारे देश के प्रमुख साहित्यकार स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ऐसी सतर्क वाणी उच्चारण करने में अग्रणी थे। उनकी तथा उनके समान अन्यान्य मनीषियों की सतर्क वाणी समय रहते नहीं सुनी गई परन्तु उसका याथार्थ्य आज पदे-पदे अनुभूत हो रहा है। इस

प्रकार देखा जाता है कि साहित्यकारों की बात सब समय अपना उद्देश्य सिद्ध करने में सफल नहीं हुई है। सत्यों का सत्य यह है कि झूठी, हानिकारक और विषेली बातों का प्रचार करने में संसार की शक्ति-मदमत्त जातियों ने जितना अधिक प्रयत्न किया है उसका एक हजारवाँ हिस्सा भी स्वस्थ और उन्नत बनाने वाले साहित्य के प्रचार में नहीं हुआ है। सारी समाज-व्यवस्था सड़ी हुई कुछ ऐसी विषैली हो गई है कि उत्तम साहित्य के प्रचार में सौ-सौ बाधाएँ अपने आप आ उपस्थित होती हैं। इसीलिए आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही नहीं है। उस सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातों को सुनाने में बाधक है। चिलम जब नहीं जल रही है तो क्यों न उसे उलट कर फिर से साजा जाय ?

इसलिए साहित्यकार आज कल्पलोक का प्राणी बनकर नहीं रह सकता। दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम सृष्टि करना ही सबसे प्रधान काम नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परम आवश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सकें। साहित्यक सभायें यह कार्य कर सकती हैं। ये सम्पूर्ण जन समाज की उत्तम साहित्य सुनाने की माध्यम बन सकती हैं। इस विशाल देश में शिक्षा की मात्रा बहुत ही कम है। यहाँ सब कुछ नये सिरे से करना है, यहाँ के साहित्यक की जिम्मेदारी कहीं अधिक है। फिर हमने जिस भाषा के साहित्य-भण्डार को भरने को व्रत लिया है उसका महत्त्व और भी अधिक है। आज उसे सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है। हम लोग जब हिन्दी की सेवा करने की बात कहते हैं तो प्रायः भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिन्दी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा जिसका माध्यम हिन्दी है। मनुष्य ही बड़ी चीज़ है। भाषा उसी की सेवा के लिये है। साहित्य-सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य अपने आप के लिये लिखा जाता है उसकी क्या क़ीमत है, मैं नहीं जानता। परन्तु जो साहित्य मनुष्य समाज को अज्ञान, रोग, शोक, दारिद्र्य, और परमुखापेक्षिता से

बचाकर उसमें आत्मबल का सञ्चार करना है वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्त्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं। मैं मनुष्य की अतुलनीय शक्ति का विश्वास रखता हूँ और उसी विश्वास के बल पर यह आशा करता हूँ कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को जरूर बदल देंगे।

लोहे की गाड़ी पर बैठकर कई बार मैं गंगा और शोण नद से धौत प्रदेश को पार कर गया हूँ, उस समय चित्त की अवस्था एक ही जैसी नहीं रही है। कभी उल्लास और कभी अवसाद लेकर आया हूँ परन्तु सारी यात्रा में मुझे एक-न-एक बार ऐसा जरूर लगा है कि मैं एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रदेश के भीतर से गुजर रहा हूँ, मानों मेरे चारों ओर बिखरे हुए धूलिकण कुछ-न-कुछ ऐसा सन्देश सुनाने को उत्सुक हैं जिन्हें सुनकर मैं आनन्द-विह्वल हो जाऊँगा। शोण नद को देखकर मेरा हृदय बराबर उल्लसित हुआ है। ऐसा एक भी अवसर नहीं आया जब मैं सोन के पुल पर से गुजर रहा होऊँ और मेरा चित्त एक अनुभूत औत्सुक्य से न भर उठा हो। मुझे इसका यथार्थ कारण नहीं मालूम। परन्तु कोई जननान्तर-सौहृद कोई अज्ञात स्नेहबंध, कोई निगूढ़ औत्सुक्य मुझे अवश्य चंचल कर देता है। मुझे एक ही साथ कादम्बरी के वर्णित अनेकों चित्र याद आ जाते हैं। मेरा भटका हुआ चित्त उस मनोमुग्धकारी दृश्य को देखने के लिये व्याकुल हो उठता है। जब कहीं इन प्रदेशों के पश्चिमी भाग में चन्द्रमा पद्ममधु रंग से रंगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति आकाश-गंगा के पुलिन से पश्चिम जलधि की ओर उदार भाव से उतर जाता होगा और समस्त दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पांडुर हो उठता होगा। फिर धीरे-धीरे हाथी के रक्त से रंजित सिंह के सटाभार के या फिर लोहित वर्ण के लाक्षारस के सूत्रों के समान लाल सूर्य किरणें आकाश रूपी वनभूमि से नक्षत्र रूपी फूलों को इस प्रकार झाड़ने लग जाती होंगी मानों पद्मराग मणि की शलाकाओं से बनी हुई झाड़ू हों। आहा कैसा मधुर प्रभात होता होगा वह, जब शिशिर बिन्दुओं को वहन करता हुआ पद्म वन को

प्रकम्पित करता हुआ, परिश्रान्त शबर रमणियों के स्वेद-बिन्दु से सिंचा हुआ, कम्पमान पल्लवों और लालानिकुञ्जों को नृत्य की शिक्षा देता हुआ, प्रस्फुरित पद्मोंका सौभाग्य अपहरण करता हुआ मंद-मंद संचारी प्राभातिक पवन बहने लगता होगा। बाणभट्ट की अमर लेखनी को पार करने के बाद शोणतट को वह उन्मत्त पवन समान विश्व के सहृदयों का आस्वाद्य हो उठा है। मैं जब कभी इन प्रदेशों के भीतर से गुजरता हुआ इस और इस ऐसे अनेक दृश्यों की बात सोचता हूँ तो अकारण उत्सुकता मुझे विह्वल बना देती है। क्यों यह दृश्य इतना मोहक हो गया है, क्यों वह समस्त विश्व की नितान्त अपनी चीज़ बन गया है। मेरा विश्वास है कि ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है कि वह केवल प्रकृति के सौन्दर्य पर अङ्कित दृश्यमात्र नहीं है, वह मनुष्य के अतल हृदय-तीर्थ में स्नान करने के कारण अत्यन्त पवित्र और महान् हो गया है। मनुष्य का हृदय वह पारस है जो झट लोहे को सोना बना देता है। आपका मैं हृदय से आभारी हूँ जो आपने मुझे ऐसा अवसर पाने का गौरव दिया है।

आज मनुष्य दुर्गति के उस बिन्दु पर पहुँच गया है जो इतिहास का जाना हुआ नहीं है। सारा जगत हिंसा के उन्मत्त निष्ठुर नृत्य से संत्रस्त और भीत है। और यह सब किसने किया है? स्वयं मनुष्य ने ही। वर्ड्सवर्थ ने व्यथित होकर कहा था—आदमी ने आदमी को क्या बना रक्खा है! पास और दूर, समुद्र के इस पार और उस पार जहाँ देखिए मनुष्य की दुर्गति का अवसान नहीं है। उस पुँजीभूत दुर्गति के भीतर आपने अपने साहित्यक उत्सव का आयोजन किया है। इसका अर्थ मेरी समझ में यह है कि इस विश्वव्यापी दुर्गति के आमने-सामने खड़े होने का साहस और संकल्प आप में है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि किसी न किसी दिन यदि जगत दुर्गति के इस दलदल से उद्धार पाने में समर्थ हुआ तो उस पुण्य कार्य के सबसे बड़े सहायक साहित्यकार होंगे। वे ही जन-चित्त के उस घिनौने मनोभाव को समझ सकेंगे जो युद्धों, विद्वेषों और संघर्षों को ख़ूराक जोगाया करता है, जो

संकीर्ण स्वार्थ के कारण लाखों निरीह जीवों के सर्वनाश में उल्लास अनुभव करता है।

हिन्दी के ऊपर यह उत्तरदायित्व और भी अधिक है। हिसाब लगाकर देखने वालों ने बताया है कि यह संसार की सबसे अधिक बोली जाने वाली तीन-चार भाषाओं में एक है। यह गर्व करने की अपेक्षा चिन्तित होने की बात अधिक है। कई करोड़ लोगों को बौद्धिक, मानसिक, और आध्यात्मिक विचार तथा जीविका के साधन बनाने वाली भाषा में साहित्य की कमी बड़ी ही अनर्थकारी बात है। इस बात का सीधा-सा अर्थ यह है कि हिन्दी के साहित्यकार कई करोड़ जन-समूह की अग्रगति के लिए जिम्मेवार हैं। वे अगर समय पर नहीं चेतते तो विश्व की विचारशील जनता के सामने उन्हें अपराधी बनना पड़ेगा। हिन्दी को यह उत्तरदायित्व विधाता की ओर से मिला है। समय रहते यदि हमने इस उत्तरदायित्व को नहीं सँभाला तो कर्ण के वाणों के समान हमारा वरदान अभिशाप बन जायगा। हमें अभी से अपने को दुर्गत मानवता के बचाने के प्रयत्न में लगा देना चाहिए। साहित्य-निर्माण का यही एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए।

यदि एक बार हम ठीक-ठीक अनुभव करलें कि हमारा उद्देश्य क्या है तो हमें अपने छोटे-मोटे विवादात्मक प्रश्नों को सुलझाने में विशेष कठिनाई न पड़ेगी। मैं समझता हूँ आप लोग उन छोटे-मोटे या बड़े-बड़े भी अन्यायों से अवश्य क्षुब्ध होंगे जो आए दिन हिन्दी के ऊपर अपनों और परायों द्वारा होते रहते हैं। आपके मन में इन लोगों के प्रति रोष का भाव होगा ही जो आँखों के होते हुए भी अन्धे बनकर हिन्दी के रूप को विकृत कर रहे हैं। लेकिन फिर एक बार में आपको याद दिला दूँ कि हिन्दी को विकृत करना भी एक लाक्षणिक प्रयोग है। इसका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिये कि हिन्दी में अनुचित शब्दों का अनुचित ढंग से प्रयोग करके कोई उस भाषा को बिगाड़ता है। वस्तुतः बिगाड़ता यदि है तो उस जन-समूह को जिसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी में बहुत से दुर्बोध्य विदेशी शब्दों को ठूँसने से और विदेशी व्याकरण

से उन्हें परिचालित करने से अहित किसका होता है ? मेरा विचार है कि अहित उस जन-समूह का होता है जिसको उद्देश्य करके वह भाषा सुनाई जाती है और अहित उस उद्देश्य का भी होता है जिसके लिए वह तरीक़ा अख़्तियार किया जाता है। हिन्दी का कोई क्या बिगाड़ लेगा। वह विरोधों और संघर्षों के भीतर से ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालने की चेष्टा की गई थी पर वह मरी नहीं। उसने किसी राजशक्ति की उँगली पकड़ कर यात्रा नहीं तै की है। वह अपने आपकी शक्ति से महत्त्वपूर्ण आसन पर अधिकार करने वाली शायद अद्वितीय भाषा है। मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम कि संसार में ऐसी कोई भाषा है या नहीं जिसके विकास में पद-पद पर बाधा पहुँचाई गई हो और फिर भी जो अपार शक्ति संचय कर सकी हो। संसार बहुत बड़ा है। उसकी बात न जानना ही अधिक स्वाभाविक है; पर मेरा अनुमान है कि भारतवर्ष में इतनी बाधा सहकर भी इतनी शक्ति संचय करने वाली भाषा एकमात्र हिन्दी ही है। आज वह सैकड़ों प्लैटफ़ार्मों से, कोड़ियों विद्यालयों से और अनेकानेक प्रेसों से नित्य मुखरित होने वाली परम शक्तिशाली भाषा है। उसकी जड़ जनता के हृदय में है। वह किसी की कृपा-कोर से बनने-बिगड़ने वाली नहीं है। इस सिक्के पर न छाप कर या उस स्टेशन से न बोल कर जो लोग उसे परास्त करना चाहते हैं वे खुरपी से पहाड़ खोदने का प्रयास करते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि आपकी परिषद् के प्रत्येक सदस्य का विश्वास है कि हिन्दी को कमजोर करने की चेष्टा उन बुद्धिमान समझे जाने वाले मूर्ख लोगों की ओर से हो रही है जो इस मामूली बात को भी नहीं जानते कि भाषा का उद्देश्य परस्पर को ठीक से समझना है और प्रचार करने की भाषा यदि ऐसी हुई जिसे जनता समझ ही न सके तो सबसे पहले वे अपना ही अहित करते हैं। आँख मूँद लेने से दुनियाँ में अँधेरा नहीं हो जाता।

मैं बराबर ही ऐसा विश्वास करता आया हूँ कि हिन्दी केवल काव्य-नाटक लिखने वालों की भाषा नहीं है। उसमें संसार की समस्त

चिंतनराशि आने वाली है। हमारे इस देश में कभी जो स्थान संस्कृत का था और आज जो स्थान अङ्गरेजी को प्राप्त हो गया है उससे भी अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिन्दी को बैठना है। उसे संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है। उसका कर्तव्य बहुत है, अपने को अपने महान् उत्तरदायित्व के योग्य उसे सिद्ध करना होगा। मनुष्य को अज्ञान, मोह और परमुखापेक्षिता से बचाने के महान् उद्देश्य से उसका साहित्य प्राणोदित होना चाहिये। हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि हिन्दी इसी विराट उद्देश्य को सामने लेकर ही इस महत्त्वपूर्ण आसन की अधिकारिणी हो सकती है जो उसका उचित प्राप्य है और जिस पद पर विधाता ने उसे स्वयं बैठा दिया है। आप पूछ सकते हैं कि वह प्रतिष्ठित पद क्या है, जिस पर हिन्दी आसीन हो चुकी है। वह यही है कि हिन्दी आज भारतवर्ष के हृदय में वर्तमान प्रदेशों की मातृ-भाषा है; करोड़ों नर-नारियों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्य की भाषा है। उसी में वह शक्ति है जो भारतवर्ष के सार भाग के दुख-सुख को प्रकट कर सकेगी। संक्षेप में यह भारतीय महाद्वीप की केन्द्रीय भाषा है। भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा कुछ भी हो लेकिन जो बात निर्विवाद है, वह यह है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा वह भाषा, जिसका आश्रय लिए बिना कोई आन्दोलन, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक हो, असफल होने को बाध्य है—हिन्दी है। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है भारतवर्ष के तीन चौथाई आदमियों की मानसिक शक्ति को उत्तेजित करना, उनके चरित्र का निर्माण करना और भारतवर्ष के भाग्य को विशेष दिशा की ओर ले जाना। हम इसी कार्य के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। उस भाषा को दृष्टि में रखकर ही साहित्य-निर्माण करना है। अगर यही भाषा राष्ट्र-भाषा बना दी गई, तो हमें खुशी ही होगी, और इसे अगर राष्ट्र-भाषा नहीं माना गया, तो हमें नाराज होने की कोई जरूरत नहीं रहेगी। मैंने कई बार जो बात कही है उसे फिर दुहरा देता हूँ। हमें इस भ्रम का शिकार नहीं होना चाहिए कि सभा-सोसाइटियों का संगठन करके और उनमें पार्टियाँ खड़ी करके

हम कुछ कर लेंगे। इससे हल्ला चाहे जितना करलें, साहित्य नहीं बना सकते। साहित्य देश के कोनों में बिखरे हुए लोग अलग-अलग बैठकर लिखते हैं। सभा करके आप उनको सम्मान दे सकते हैं, शक्ति नहीं; प्रोत्साहन दे सकते हैं. प्रतिभा नहीं। मौलिक साहित्य के रचयिता प्रायः सभाओं के संचालक नहीं हुआ करते, इसलिए सभाओं के संगठित करते समय हम लोगों को अपना कर्तव्य भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। हमें साहित्य का निर्माण आज की परिस्थिति को देखकर नहीं करना है। समय बड़ी तेजी से बदल रहा है। आज से दश वर्ष बाद हिन्दी भारतवर्ष की सबसे अधिक साहित्य-शून्य भाषा लगेगी; इसलिए नहीं कि वह अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं से पिछड़ी हुई है, बल्कि इसलिए कि उसके प्रयोजन अत्यधिक हैं। लाखों वर्गमील में फैले हुए करोड़ों आदमियों की साहित्यक और वैज्ञानिक पिपासा मिटाने का महान व्रत उसे लेना है। इतनी बड़ी जिम्मेवारी किसी अन्य भाषा की नहीं है। हमारे अन्दर जो कुछ भी गम्भीरता है, उसके साथ हमें सोचना होगा कि समय के भागते हुए वेग से हिन्दी की गति का सामंजस्य किस प्रकार होगा।

आप मौलिक रचयिताओं अर्थात् कवियों, औपन्यासिकों और कहानीकारों को नहीं बना सकते; पर ऐसे बुद्धिमान युवक आपके देश में भरे पड़े हैं, जिन्हें उपयुक्त नेतृत्व और साधन मिलें तो साहित्य को नाना प्रकार की परिचितमूलक. पुस्तकों से भर सकते हैं। जिस साहित्य में भिन्न संस्कृतियों, इतिहासों, कला-परिचायक ग्रन्थों, मनोवैज्ञानिक, और मानव विज्ञानादि शास्त्रों की पुस्तकें नहीं हैं, उनमें आज के युग में उपयुक्त हो सकने वाला कवि या नाटककार हो ही नहीं सकता। ये शास्त्र ही कवि के दिमाग़ को उर्वर बनाते हैं। प्राचीन साहित्य का मेरुदण्ड पौराणिक कथाएँ थीं, आज के साहित्य की रीढ़ विज्ञान और इतिहास है। कविता और नाटक के क्षेत्र को सूना देखकर आह भरने वाले ठीक उसके कारण को हृदयंगम करते, तो पहले इन विषयों की पुस्तकों के अभाव पर ही दुख प्रकट करते। अब तक हमारे कवि और

अन्य कलाकार इन विषयों का ज्ञान विदेशी भाषा के माध्यम से प्राप्त करते रहे हैं। यही कारण है कि इन विषयों से अपरिचित हिन्दी भाषी को इनका अर्थ समझ में नहीं आता। आधुनिक कविता को अगर आप हिन्दी में देखना चाहते हैं तो पहले विज्ञान, संस्कृत, इतिहास, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, समाज-विज्ञान आदि को देखने की इच्छा प्रकट कीजिये।

अपना यह देश कोई नया साहित्यक प्रयोग करने नहीं निकला है। इसकी साहित्यक परम्परा अत्यन्त दीर्घ धारावाहिक और गम्भीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है उस सबका प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है। यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारे प्राचीन चिन्तनराशि को उसमें संचित नहीं किया गया है। संस्कृत, पाली और प्राकृत की उत्तम पुस्तकों के जितने उत्तम अनुवाद अंग्रेजी, फ्रैञ्च और जर्मन भाषा में हुए हैं उतने हिन्दी में नहीं हुए। परन्तु दुर्भाग्य लाक्षणिक प्रयोग है और यह वस्तुतः उस विशाल मानव समाज का दुर्भाग्य है जो उस भाषा के ज़रिये ही ज्ञान अर्जन करता है। यह विशाल साहित्य अपनी भाषाओं में यदि अनूदित होता तो हमारा साहित्य सहज ही सैकड़ों प्रकार के अप-प्रचारों और हीन भावनाओं का शिकार होने से बच जाता जो सम्पूर्ण समाज को दुर्बल और परमुखापेक्षी बना रही हैं। भिन्न-भिन्न स्वार्थ के पोषक प्रचारक इस देश की अतिमात्र विशेषताओं का डंका प्रायः पीटा करते हैं। इतिहास को कभी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से कभी जातिगत (Racial) और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिन्दुस्तानी जैसे हैं उन्हें वैसा होना ही है और उसी रूप में बने रहना ही उनके लिए श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न-भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखने वाले प्रचारकों ने की है वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त होने लगी है। अगर इस जहर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रन्थों के देशी प्रामाणिक संस्करण और अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं

है। लेकिन अपनी भाषा में प्राचीन ग्रन्थों को सिर्फ हमें इसलिए नहीं भरना है कि हमें दूसरे स्वार्थी लोगों के अपप्रचार के प्रभाव से मुक्त होना है। विदेशी पंडितों ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, मनन और सम्पादन किया है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए परन्तु यह बात भूल नहीं जाना चाहिये कि अधिकांश विदेशी पंडितों के लिए हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के समान हैं। उनमें उनका जो सम्मान है उसे अँगरेजी के 'म्युजियम-इन्टरैस्ट' शब्द से ही समझाया जा सकता है। नुमाइश में रक्खी हुई चीजों को हम प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं पर निश्चित जानते हैं कि हम अपने जीवन का व्यवहार नहीं कर सकते। किसी मुग़ल सम्राट का चोग़ा किसी प्रदर्शिनी में दिख जाय तो हम प्रशंसा उसकी जितना करें हम निश्चित जानेंगे कि उसको हमें धारण नहीं करना है। परन्तु भारतीय शास्त्र हमारे देशवासियों के लिए प्रदर्शिनी की वस्तु नहीं हैं। वे हमारे रक्त में मिले हुए हैं। भारतवर्ष आज भी उसकी व्यवस्था पर चलता है और उनसे प्रेरणा पाता है। इसीलिए हमें इन ग्रन्थों को अपने ढंग से संपादन करके छापना है, इनके ऐसे अनुवाद प्रकाशित करना है जो पुरानी अनुश्रुति से विच्छिन्न और असंबद्ध भी न हों और आधुनिक ज्ञान के आलोक में देख लिए गए हों। यह बड़ा विशाल कार्य है। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमशालिनी भाषा है। वह हजारों वर्ष के दीर्घकाल में और लाखों वर्गमील में फैले हुए मानव समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में विहार करने वाली भाषा है। उसका साहित्य विपुल है, उसकी साधना गहन है और उसका उद्देश्य साधु है। उस भाषा को हिन्दी माध्यम से समझने का प्रयत्न करना भी एक तपस्या है। इस तपस्या के लिए संयम और आत्मबल की आवश्यकता है। हमें अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर गंभीरतापूर्वक उसके अध्ययन में जुट जाना चाहिए। हिन्दी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने वाले उसकी अधिकांश महिमा से अपरिचित रह जाते हैं। महान कार्य के लिए विशाल हृदय होना चाहिए। हिन्दी का साहित्य-निर्माण सचमुच महान कार्य है।

मैं मानता हूँ कि इस देश में इसी देश की सर्वाधिक पूज्य और समृद्ध भाषा की स्तुति करना कुछ समझ में न आने वाली-सी बात है, परन्तु दुर्दैव ने आज हमारी मनोवृत्ति ऐसी बना दी है कि हमें संस्कृत की महिमा सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण संग्रह करने पड़ते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति यदि ध्यानपूर्वक हमारे पिछले हजारों वर्ष के इतिहास को देखें तो निश्चित रूप से स्वीकार करेंगे कि यद्यपि धर्मोपदेश और काव्य-रचना के लिए कभी-कभी भिन्न भाषाओं का भी व्यवहार हुआ है परन्तु सब मिला कर पिछले कई सहस्राब्दकों तक भारतवर्ष के सर्वोत्तम को—उसके ज्ञान और विज्ञान को, उसके दर्शन और अध्यात्म को, उसके ज्योतिष और चिकित्सा को, उसकी राजनीति और व्यवहार को, उसके कोष और व्याकरण को, उसकी सम्पूर्ण गुरुत्वपूर्ण चिन्ताराशि को—इसी भाषा ने वहन किया है। विदेशी लोगों के झुण्ड बराबर इस देश में आते रहे हैं और उन्होंने भी बड़ी ही जल्दी सीख लिया है कि संस्कृत ही उनके काम की भाषा हो सकती है। यह आश्चर्य की बात बताई जाती है कि संस्कृत भाषा का सबसे पुराना शिला-लेख जो सन् ईसवी के लगभग सौ डेढ़-सौ वर्ष बाद खुदवाया गया था, गिरनार में शक महाक्षत्रप रुद्रदामा का है। इस शिलालेख ने उस भ्रम का निराकरण कर दिया है जो ऐतिहासिक पंडितों द्वारा प्रचारित किया गया था कि संस्कृत का अभ्युत्थान बहुत शताब्दियों बाद गुप्त सम्राटों द्वारा हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत की अभिवृद्धि में गुप्त सम्राटों का बहुत हाथ था परन्तु यह नितान्त ग़लत बात है कि उनके पहले कुछ दिनों तक उसका वेग रुद्ध होगया था। इस प्रकार संस्कृत इस देश की अपूर्व महिमामयी भाषा है। हिन्दी उसके भांडार को सम्पूर्ण रूप से जब तक अपने स्वायत्त नहीं कर लेती तब तक वह सूनी ही दिखेगी। यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों का संपादन-प्रकाशन यदि हम उसी निष्ठा और लगन से न कर सके जिससे विदेशी पंडितों ने किया है तो अन्तर्राष्ट्रीय सभा में हम हीन सिद्ध होंगे। *

---

* आरा में हरप्रसाद जैन कालेज की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से दिये हुए भाषण से।

भाषा की शक्ति

उन थोड़े से अभागों को छोड़कर जिनको विधाता ने गूंगा जन्म दिया है अन्य सभी लाग बोलते हैं। बोलना भी दो तरह का होता है। कभी किसी आवेश या पीड़ा या वायु-विकार की अवस्था में मुँह से आप से आप ही आः, अरे, हूँ, आह जैसे अव्यय स्वर निकल जाते हैं। इनके द्वारा सुनने वाले को हमारी मानस-अवस्था का कुछ न कुछ पता लग जाता है, परन्तु हम इनको संकल्पपूर्वक नहीं बोलते। ऐसे निरुद्देश्य स्वर भाषा के अंग हैं परन्तु इनसे ही भाषा नहीं बनती। उसका मुख्यांश वह है जो सोद्देश्य बोला जाता है। बोलने में एक मात्र उद्देश्य श्रोता को प्रभावित करना होता है। प्रभाव के स्वरूप विभिन्न होते हैं। कभी हम उसके ज्ञान की वृद्धि करना चाहते हैं, कभी उसको अपनी ओर आकृष्ट करके उसके द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करना चाहते हैं। कभी उसको किसी काम में प्रवृत्त होने के लिये देना चाहते हैं। कभी किसी काम से रोकना चाहते हैं। परन्तु जहाँ इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं होता वहाँ भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता। कवि और स्तोता भी इस नियम के बाहर नहीं है। कवि के सामने परोक्ष-रूप से वह सब लोग रहते हैं जिनसे वह अपनी रचना के पढ़ने की आशा रखता है। जो रचना स्वान्तः सुखाय की जाती है उसमें भी कवि अपने आत्मा को श्रोतृ रूप से सम्बोधित करता है। जो मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता, अर्थात् जिसका मानस-विकास ऐसा नहीं हुआ है कि आप ही वक्ता और श्रोता बन सके वह कवि नहीं हो सकता। गम्भीर से गम्भीर वेदना में भी मूक ही रह जाता है। स्तोता भी अपने उपास्य को लक्ष्य करके ही रचना करता है। वह स्वयं अपने भगवान को न देख सकता हो पर उसको इतना दृढ़ विश्वास है कि वह मेरी बातें सुन रहा है और उन पर ध्यान देगा।

भाषा को मनुष्यों को प्रभावित करने की सामर्थ्य इसीलिये प्राप्त है कि वह समाजिक सम्पत्ति है। भले ही वह व्याकरण के नियमों का

पालन करती हो परन्तु वैयाकरण उसका स्रष्टा नहीं है। जैसा कि पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है—वैयाकरण भाषा का कुम्भकार नहीं है वह अपनी या दूसरों की इच्छा से भाषा की रचना नहीं किया करता। लोगों का बोलना सुनकर नियमों की खोज किया करता है। बहुत से शास्त्र-कारों को समास. तद्धित, प्रत्यय आदि उपायों से नये शब्दों का निर्माण करना पड़ता है। इस प्रकार गढ़ा गया शब्द अपने रचयिता की कृति तो है परन्तु आरम्भ में वह एक स्वर मात्र है जिसका अर्थ केवल एक व्यक्ति जानता है वह उसकी सम्पत्ति है। पर जिस दिन वह उसको दूसरों के सामने रख देगा और दूसरे लोग भी उसका व्यवहार करने लग जायेंगे उस दिन वह सार्वजनिक सम्पत्ति हो जाएगा और भाषा का अंग बन जाएगा। मेरे एक मित्र लाल पेंसिल को 'रक्त-मुखी' कहते हैं। स्वर बुरा नहीं है परन्तु लाल पेंसिल के अर्थ में इस पर उनका एकाधिकार है। जिस दिन उनके प्रयत्न से या किसी अन्य प्रकार से सब लोग ऐसा व्यवहार करने लग जाएँगे उस दिन वह हिन्दी का अंग हो जायेगा। आज दिन वह किसी के सामने इसका प्रयोग करें तो उसका प्रभाव न पड़ेगा जो उनको अभीप्सित है। सार्वजनिक हो जाने पर यह श्रोता को प्रभावित करने का साधन बन जायेगा।

मैं बराबर वक्ता और श्रोता की बात इसलिए कर रहा हूँ कि लिखित भाषा उच्चरित भाषा का ही रूपान्तर है और लेखक तथा पाठक वक्ता और श्रोता के ही रूपान्तर हैं।

सार्वजनीन अर्थ के बोध कराने वाले स्वर. जिनको हम अब शब्द कहेंगे, भाषा के अंग होते हैं पर इनका प्रत्येक समूह अर्थवाहक नहीं होता। शब्दों का अर्थवाहक समूह वाक्य कहलाता है। वाक्य में शब्द मुख्यशः पद रूप में, अर्थात् विभक्तियों तथा कालादि भेदों के प्रत्ययों से युक्त होकर आते हैं। 'राम वहाँ खाना' शब्द समूह है, वाक्य नहीं है; 'वहाँ राम ने खाया' वाक्य है। इस शब्द समूह में आकांक्षा गुण आ गया है, अर्थात् एक शब्द दूसरे शब्द की आकांक्षा रखता है। दूसरे शब्द को खोजता है। 'वह' सुनने से क्या हुआ? राम ने सुनने

पर 'क्या किया' ? 'खाया' सुनने पर 'किसने ?' जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है । पर केवल प्रत्ययादि का सत्प्रयोग वाक्य के लिये पर्याप्त नहीं है । केवल इनका विचार करने से जो वाक्य बनता है वह व्याकरण के अनुकूल होकर भी अर्थहीन होता है । 'राम ने आग से गन्ना सींचा' व्याकरण की दृष्टि से वाक्य है परन्तु इसमें एक दोष है जिसे 'अयोग्यता' कहते हैं । आग से गन्ने का सींचा जाना देखा नहीं गया। सार्वजनिक अनुभव में इसके लिये स्थान नहीं है इसलिए 'आग से सींचना' सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है, भाषा नही है, यद्यपि 'आग' और 'सींचना' दोनों शब्द भाषा के अंग हैं और 'आग से सींचा' व्याकरण के अनुसार शुद्ध है । इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि शब्दों का कोई भी समूह तभी भाषा के अन्तर्गत माना जा सकता है जब वह सार्थक हो और सार्थकता की कसौटी यह है कि वह चित्त में जो विचार उत्पन्न करे उसका आधार ऐसा अनुभव हो जो श्रोता और वक्ता दोनों को समान रूप से प्राप्त हुआ हो । यह बात शब्द समूहों के लिये ही नहीं समासान्त शब्दों के लिये भी लागू है । हम 'शशश्रृङ्ग' 'गधे की सींग' बोल सकते हैं पर इन वस्तुओं को किसी ने नहीं देखा. इसलिए इन समस्त शब्दों* का अर्थ नहीं है । भाषा में इनको द्रविड़ प्राणायाम के ढंग से स्थान मिला है । शश को श्रृङ्ग नहीं होती, गधे को सींग नहीं होती। 'नहीं' अर्थात् अभाव, अनस्तित्व, सार्वजनीन अनुभव का विषय है। अतः ऐसे शब्दों में कोषार्थ पीछे डाल दिया जाता है क्योंकि वह सामान्य अनुभव का विषय नहीं है और वाच्यार्थ कोई ऐसी सर्वानुभूत वस्तु बन जाती है जिसकी ओर यह शब्द अप्रत्यक्ष रूप से संकेत करते हैं।

प्रत्येक वाक्य में कम से कम दो पद तो होने ही चाहियें ; एक नाम और दूसरा आख्यात । नाम के अन्तर्गत जाति और द्रव्य-वाची सञ्ज्ञा शब्द तथा सर्वनाम जैसे वह शब्द होते हैं जो कर्त्ता रूप में आते हैं। आख्यात में क्रियापद होते हैं। यदि किसी वाक्य में इन दो में से

---

*'गधे की सींग' समासान्त शब्द नहीं है पर सुविधा की दृष्टि से मैंने उसे यहाँ ले लिया है । इसका संस्कृत रूप 'खर विषाण' निर्दोष उदाहरण है ।

एक प्रत्यक्ष न देख पड़ता हो तो अन्यत्र से अध्याहार्य्य होगा, लाया जा सकता होगा। परन्तु नाम और आख्यात के योगमात्र से ही समुचित वाक्य नहीं बनता, चाहे वहाँ योग्यता का अभाव न हो। समुचित वाक्य, ऐसा वाक्य जिससे अर्थ का बोध और ज्ञान का संचार हो, तभी बनता है जब आख्यात के द्वारा नाम के सम्बन्ध में कुछ व्ययदेश किया जाय, कोई ऐसी बात कही जाय जो पहले से ज्ञात न हो, जो नई हो। 'गोविन्द है', 'उस गऊ की सींग छोटी है'— ऐसे वाक्यों में व्ययदेश है परन्तु 'गायक गाने वाला होता है' ऐसा वाक्य नहीं है। जो मनुष्य संस्कृत के गायक शब्द का अर्थ न जानता हो उसके लिये तो यह वाक्य उसी प्रकार अर्थवाहक हो सकता है जिस प्रकार कोष की यह पंक्ति—

गायक—गाने वाला, गायन करने वाला।

परन्तु भाषा जानने वाले के लिये इसमें कोई नई बात नहीं है। 'गाने वाला गाने वाला होता है' व्यर्थ की दुरुक्ति है। यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो बहुत-सा तथाकथित् साहित्य, विशेषतः पद्य-साहित्य, इस प्रकार के वाक्यों से भरा पड़ा है। हमने ऊपर देखा है कि शब्द सार्वजनिक सम्पति है और उसका अर्थ सार्वजनिक अनुभव है। विचार करने से प्रतीत होता है कि वस्तुतः शब्द का अर्थ सार्वजनिक कृति है। काग़ज़ के एक टुकड़े पर कुछ अक्षर और अंक छपे होते हैं। उसे नोट कहते हैं। जब तक वह किसी बकस में पड़ा होता है, तब तक निर्जीव रहता है, उस पर कुछ भी लिखा हो पर वह उतना ही निकम्मा है जितना कि कूड़ेखाने में पड़ा हुआ समाचार पत्र का एक फटा हुआ टुकड़ा। पर जब नोट हाथों-हाथ घूमने लगता है तब और काग़ज़ों से उसका जो भेद है वह स्पष्ट हो जाता है। वह अन्न और वस्त्र में, अध्यापक के वेतन और औषध के मूल्य में परिणत हो जाता है। उसका अर्थ मनुष्य की भूख और ठंड, जिज्ञासा और पीड़ा से आंका जाता है। काग़ज़ का छपा हुआ टुकड़ा अब भी है। परन्तु इस सार्वजनिक व्यवहार ने उसको सुख, स्वास्थ्य और ज्ञान का साधन और पर्य्याय-सा बना दिया, यहाँ तक कि यों कहने को जी चाहता है कि इतने रुपये का नोट — इतनी तृप्ति —

इतना स्वास्थ्य = इतना ज्ञान। यही बात शब्दों में है। शब्द है तो स्वर ही पर जब वह भाषा में व्यवहृत होकर सैकड़ों मनुष्यों में घूमता है तो उसमें विचित्र सप्राणता, विचित्र शक्ति आ जाती है। यह शक्ति बढ़ती जाती है। शब्द मनुष्य को प्रभावित करता है। परन्तु उनसे आप भी प्रभावित हो जाता है। थोड़े दिनों तक व्यवहार में रहने पर किसी शब्द का अर्थ पूर्ववत नहीं रह जाता। मूल अर्थ के चारों ओर उपार्थों का, गौण अर्थों का एक पुंज बन जाता है। किसी स्वर को वीणा पर, वंशी पर, सारंगी पर, निकालिये, गले से उठाइये। स्वर वही होगा परन्तु प्रत्येक बाजा पहिचाना जा सकता है। सबकी झनकार अलग अलग होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक स्वर के साथ दबे रूप से कुछ गौण स्वर भी उत्पन्न होते हैं और सब बाजों में एक ही गौण स्वर नहीं उठते। इसी से परख होती है। इसी प्रकार एक ही विषय का अनुभव सबको एक-सा नहीं होता। कोई भी दृश्य हो, दस व्यक्तियों से, जिन्होंने उसे ध्यान से देखा हो और यथार्थवादी हों, उसका वर्णन पूछिये। सब एक-सी बात नहीं कहेंगे। थोड़ा-थोड़ा अन्तर होगा। अपनी-अपनी धारणा शक्ति, अपना-अपना बुद्धि-विकास, सबमें प्रथक है, इसीलिए समान विषय के अनुभव में भी थोड़ा-थोड़ा भेद है। यह सब अनुभूति भेदवाचक शब्द के अर्थ के साथ मिल जाते हैं। एक शब्द सार्वजनिक अनुभव अर्थात् मिलते-जुलते बहुत-से अनुभवों के योग, का वाचक बन जाता है और अनुकूल समय पर अपने अर्थ के अंश विशेष को व्यक्त करता है। सारा अर्थ उसके भीतर छिपा रहता है और एक साथ प्रायः कभी भी प्रकट नहीं होता। उदाहरण के लिए 'स्त्री' शब्द लीजिए। स्थूलरूपेण वैज्ञानिक दृष्टि से तो स्त्री मनुष्य जाति का वह प्राणी है जिसके शरीर की बनावट गर्भ धारण करने और बच्चे को दूध पिलाने के उपयुक्त है और जिसका चित्त वात्सल्य जैसे भावों का आधार है। सम्भवतः वैद्य, प्राणिशास्त्री और मनोविज्ञान के वेत्ता के लिए इसके यह ही अर्थ होते होंगे। साधारण मनुष्य के लिए स्त्री कभी माता, कभी लड़की कभी बहिन और कभी

प्रेयसी होती है। देशभक्त के लिए स्त्री महारानी लक्ष्मीबाई जैसी महिलाओं की समानरूपा है जिन्होंने अपने-अपने समय में स्वातन्त्र्य के लिए लड़ने वालों को स्फूर्ति प्रदान की थी। जो उपासक जगत् को देवीमय देखता है और 'विद्या समस्तास्तवदेवि भेदाः, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'* मानता है उसके लिए स्त्री जगन्माता का प्रतीक है। असंस्कृत बुद्धिवालों के लिए स्त्री झूठ, अशौच आदि दुर्गुणों का समूह अतः 'ताड़न की अधिकारी' है। विकृत बुद्धि तपस्वी के लिए तपोभ्रंशक प्रलोभनों में मुकुटमणि हैं। इस एक शब्द के यह सभी अर्थ हैं। परिस्थितिवशात् व्यक्ति विशेष के चित्त में इसको सुनने से अर्थ विशेष उदय होता है। आँख और पाँव जल में नहीं फलते-फूलते और इनमें परस्पर सादृश्य भी बहुत कम है, फिर भी हम इन अवयवों को कमल से उपमा देते हैं। योगी जब एक विशेष प्रकार से बैठता है तो हम उसके आसन को कमलासन कहते हैं। इन उदाहरणों में 'कमल' शब्द का अर्थ उसके प्राकृतिक वाच्य के आगे चला गया है। स्त्री का विवाह होता है, तो वह पत्नी कहलाती है। परन्तु पत्नी को 'सहधर्मिणी' भी कहते हैं। इस शब्द के अर्थ का सर्जन तो समाज के सहस्रों वर्षों के अनुभव और व्यवहार ने किया है। 'धर्म्म' की जगह क्या कोई दूसरा शब्द रखा जा सकता है ?

एक ही शब्द से कई प्रकार के अर्थ निकाले जा सकते हैं। एक तो उसका सीधा-सादा अर्थ होता है जो अभिधा अथवा प्रचलित व्यवहार पर निर्भर करता है। 'गऊ' शब्द सुनने से एक विशेष जाति के पशु का बोध होता है। क्योंकि उस प्रकार के पशु को उस नाम से पुकारने का दस्तूर है। इस अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। दूसरा वह अर्थ है जो लक्षणाओं के द्वारा युक्तिपूर्वक शब्द में पहिनाया जाता है। 'लाल पगड़ी' आ रही है कहने से लाल पगड़ी वाले पुलिस कॉंस्टेबुल का बोध होता

---

* हे देवि, जगत की समस्त विद्यायें और समस्त स्त्रियाँ तुम्हारी ही भेद हैं।—दुर्गा सप्तशती।

है। 'कमरा सो रहा है' कहने से कमरे में रहने वालों की ओर संकेत होता है। इस प्रकार के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। कभी-कभी कहने वालों के मन में कोई ऐसा भाव होता है जिसे वह किसी कारण से शब्दों के द्वारा स्पष्टतया व्यक्त नहीं करना चाहता। ऐसी दशा में कोई मर्मज्ञ ही उसके वाच्यार्थ के पीछे जाकर वास्तविक अर्थ को पकड़ पाता है। कभी-कभी कोई ऐसे सज्जन, जिनको यह सन्देह हो जाता है कि आप उनसे चन्दा मागेंगे आपको सुनाकर कहते हैं 'आजकल व्यापार बड़ा मन्दा है'। बात सोलहो आने सत्य होगी पर उनका तात्पर्य यह होता है 'मैं इस समय आपको कुछ दे नहीं सकता'। इस प्रकार के छिपे अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। यह व्यंग्यार्थ तो उपाय साध्य होता है परन्तु कई शब्द ऐसे हैं जिनके साथ कुछ गौण अर्थ नित्यलग्न रहते हैं। यह गौणार्थ उन शब्दों के सैकड़ों वर्षों के प्रयोग के संस्कार स्वरूप होते हैं और कभी-कभी उनके गर्भ में उस भाषा को बोलने वालों का सैकड़ों वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास सम्पुटित रहता है।

अपने सहज, व्युत्पत्तिमूलक, कोष में दिये हुए अर्थ के साथ शब्द जो इस प्रकार के उपार्थ जोड़ लेते हैं उनको ध्वनि कहते हैं। ध्वनि में ही शब्द की विशेषता होती है। ध्वनि भेद के कारण समानार्थक शब्द भी बहुधा एक दूसरे के ठीक-ठीक पर्याय नहीं होते। इसी कारण अधिकांश शब्द गणित के अङ्कों की भाँति प्रतीकात्मक नहीं होते। दो मनुष्यों, दो पैसों, दो तारों में जो समान गुण दो की संख्या है, उसका प्रतीक २ है। अरबी में इसे ٢ लिखते हैं। रोमन में II लिखने की प्रथा है। हम चाहें तो कोई और चित्र बना लें। २ की जगह ٢ या II करने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। गणित की पुस्तक किसी देश की बोली में छपी हो, अंकों को एक बार पहचान लेने पर सभी लोग उनको पढ़ लेंगे और सब पर एक ही प्रभाव पड़ेगा।

$$२+३=५$$

इसका अर्थ सबके लिए एक है। इसकी जगह II+III=V या ٢+٣=٥ लिखने से कोई भेद नहीं होता, प्रत्येक व्यक्ति अपनी बोली

में इन चिह्नों का नाम ले लेगा। इन नामों में से किसी के साथ कोई गौण अर्थ, कोई ध्वनि नहीं है परन्तु शब्दों में ऐसा करना बहुत कठिन है। दूसरी भाषा में अनुवाद करने पर तो वह बात आ ही नहीं सकती, अपनी ही भाषा में एक शब्द की ध्वनि दूसरे में नहीं लाई जा सकती। पतिपरायणा स्त्रियाँ सभी समाजों में होती हैं पर 'सती' की ध्वनि निराली है। 'योगी' के स्थान में कोई दूसरा शब्द नहीं रक्खा जा सकता।

बोलने वाले ही शब्दों को ध्वनि प्रदान किया करते हैं परन्तु प्रचलित कोषार्थ और ध्वनि की ओर हठात् उदासीनता नहीं दिखाई जा सकती। शब्द पर उतना ही अर्थ भार डाला जा सकता है जितना वह सह सके। जो कवि शृङ्गारमयी रचना करता है और फिर यह दिखलाना चाहता है कि उसका अभिप्रेत अर्थ आध्यात्मिक था वह या तो अपने श्रोताओं और पाठकों को मूर्ख समझता है या भाषा के साथ बलात्कार करता है। चतुर टीकाकार चाहे तो होली की गालियों को भी योगवेदान्त के तत्त्वों से ओत-प्रोत सिद्ध कर सकता है। सम्भव है गाली के प्रयोक्ता का उद्देश्य भी ब्रह्मज्ञानोपदेश ही रहा हो परन्तु ऐसी दशा में उसको ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये था जिनके अर्थावरण में से आध्यात्मिक ध्वनि नहीं निकला करती। श्रद्धा या दुराग्रह से चाहे जो कहा जाय परन्तु यदि गीतगोविन्द के केलिवर्णन में मुझे कोई आध्यात्मिक तथ्य नहीं मिलता तो यह दोष जयदेव का है मेरा नहीं। काव्य-ग्रन्थ इस आशय से बनाये जाते हैं कि उनका जनता में प्रचार हो। कवि को इतना ज्ञान होना चाहिये कि उन शब्दों से साधारणतः कैसा अर्थ ग्रहण किया जाता है जिनका उसने प्रयोग किया है। यदि शब्द-विन्यास विषय से असंगत है तो फिर पाठक को दोष देना वैसा ही है कि 'उलटा चोर कोतवाले डाँटे'।

एक अक्षर के हेर-फेर से शब्द कुछ का कुछ हो जाता है और उसकी शक्ति में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। 'त' और 'म' विभिन्न स्वर हैं परन्तु दो में से एक में भी कोई विशेष शक्ति नहीं है।

यदि एक की जगह दूसरा उच्चरित हो जाय तो हमारे ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु 'मेरा लड़का मरगया' और 'तेरा लड़का मर गया' के प्रभाव में कोई समानता ही नहीं मिल सकती। इसी प्रकार वक्ता के स्वर-भेद से शब्द के सामर्थ्य में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। 'तुमने ऐसा किया' वर्णनात्मक वाक्य है। 'किया' के स्वर को बदल देने से प्रश्न हो जायगा तुमने ऐसा किया ? 'तुमने' या 'ऐसा' के स्वर में हेर-फेर करने से आश्चर्य, प्रशंसा, भर्त्सना के भाव प्रदर्शित किये जा सकते हैं। दोनों पर ज़ोर देने से आश्चर्य और निन्दा का कैसा संमिश्रण प्रदर्शित होता है ! स्वर के इस भावप्रदर्शक विकार को काकु कहते हैं।

एक दूसरे के सान्निध्य से शब्दों की शक्ति पर और पानी चढ़ जाता है। पद्य-रचयिता सान्निध्य के अतिरिक्त उनको भिन्न-भिन्न प्रकारों से सजाता है, यह सजावटें ही विभिन्न छन्द हैं। इनके द्वारा शक्ती में अद्भुद बुद्धि हो जाती है। विभिन्न भावों के उदय के साथ-साथ नाड़ि-संस्थान के स्पन्दन के लय की अनुकृति होता है। इसलिए छन्द काव्य के लिये कृत्रिम बन्धन नहीं प्रत्युत भावानुकूल प्राकृत कलेवर है। छन्द स्पन्द को और स्पन्द भाव को जगाने में सहायक होता है। जो बात पद्य में कुछ थोड़े से शब्दों में कहदी जाती है. गद्य में उसके लिए बहुत से शब्द लगते हैं। और फिर भी वह रस नहीं मिलता क्योंकि ध्वनि उड़ चुकी होती है। एक गाने की पंक्ति है. 'मेरी ननद निगोड़ी जागै, । इसमें ननद की जगह 'पति की बहिन' कर दीजिये जैसा करने का आपको पूरा अधिकार है, और 'निगोड़ी' की जगह बदमाश, दुष्ट, तंग करने वाली या ऐसा ही कुछ और बदल दीजिये, फिर देखिये कैसा स्वाद मिलता है। कई सौ वर्षों में 'ननद' और 'भावज' ने अपने चारों ओर जा भावमय ध्वनियाँ बटोर ली हैं, वह 'पति की बहन' और 'भाई की पत्नी' के पास नहीं हैं। गानों में जो रस 'सेज' शब्द से टपकता है उसका एक बूँद भी 'सय्या' के पास नहीं मिल सकता। उत्तर राम चरित के प्रथमाङ्क में महाराज दशरथ के समय का पुराना कंचुकी

रामचन्द्रजी के सामने आता है। वह उनको बचपन में गोद में खेला चुका है। उन दिनों उनको राम-भद्र कहकर पुकारता था, जैसे आजकल हमारे घरों में पुराने नौकर बच्चों को रामबाबू या राम भैया कहकर पुकारते हैं। पुराने अभ्यास से उसने अब भी उसी प्रकार पुकारा, फिर यकायक रुक गया। यह स्मरण हो आया कि अब तो यह राजा है। स्नेही की जगह भय ने ली और उसने सम्बोधन को बदल दिया। इस सारी लम्बी कथा को भवभूति ने कितनी सुन्दरता से कितने थोड़े शब्दों में व्यक्त किया है:—

*कंचुकी—रामभद्र—(इत्यर्धोक्ते साशंकम्) महाराज—

जनक की वाटिका में सीताजी को देखकर रामचन्द्रजी की जो अवस्था हुई उसका वर्णन तुलसीदासजी इस प्रकार करते हैं:—

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छवि, करत मधुप इव पान॥

गद्य में इसको इस प्रकार कह सकते हैं:—'भाई से बातें करते जाते थे पर उनका मन सीताजी के रूप पर मोहित होगया था। सीताजी का मुख कमल के समान था, उसमें जो छवि थी वह उस मकरन्द अर्थात् मीठे रस के समान थी जो कमल में पाया जाता है। जिस प्रकार भौंरा इस रसका लोभी होता है और कमल पर आकर बैठता है उसी प्रकार रामचन्जी का मन छवि का आनन्द लेने के लिये सीताजी के मुख की ओर लगा हुआ था। कमल और भौंरा और मकरन्द की व्याख्या और भी लम्बी की जा सकती है। परन्तु जितनी ही व्याख्या की लम्बाई बढ़ती जाती है उतनी ही भावमयता, प्रभावकता, दूर भागती जातो है।

जब मैं था तब पिउ नहीं, अब पिउ हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, या में द्वै न समाहिं॥

कबीर के इस दोहे के ऊपर एक पूरी पोथी लिखी जा सकती है। पर जो ग्राहकता दोहे में है वह उसमें कहाँ मिलनी है। दोहा छन्द

---

*कचुकी—रामभद्र—(इतना ही कहकर, आशंका के साथ) महाराज—

बना रहने दीजिये, 'पिउ' की जगह पति और 'या' की जगह 'इस' कर दीजिये। 'अति साँकरी' की जगह 'बड़ी पतली' को दे दीजिये और 'गली' को 'सड़क' बना दीजिये। नया रूप यह हो गयाः—

जब मैं था तब पति नहीं, अब पति हैं मैं नाहिं।
प्रेम सड़क पतली बड़ी, इसमें दो न समाहिं॥

मूल बात तो वही है पर दोहे का प्राण निकल गया, क्योंकि नये शब्दों में वह ध्वनि, वह भावोत्पादकता, नहीं है।

हिन्दी कवियों ने वर्षाकालीन रचनाओं में प्रायः 'दादुर' शब्द से काम लिया है। यदि 'दादुर ध्वनि चहुँ ओर सोहाई' की जगह तुलसीदासजी 'मेढ़क धुनि चहुँ ओर सोहाई', लिख देते तो कैसा भोंड़ा लगता?

मैंने एक उदीयमान कवि को 'शम्पा' लिखते देखा है। उनको ऐसा करने का पूरा अधिकार है, पर मेरी समझ में काव्य में तड़ित, सौदामिनी, चञ्चला, चपला, विद्युत, बिजली, या विज्जु में से कोई भी शब्द शम्पा से कहीं अधिक खिलता। ध्वनि और व्युत्पत्ति भेद पर ध्यान न देने से शब्दों का बहुत दुष्प्रयोग हो जाता है। 'आयु' और 'वय' के अर्थों में साम्य है परन्तु जन्म से वर्त्तमान काल तक बीते समय को वय और मृत्यु के काल तक बीते समय को आयु कहते हैं। इस बात पर ध्यान न देकर लोग पूछ बैठते हैं। 'आपकी आयु क्या है'? इसका क्या उत्तर दिया जाय। यदि दूसरी भाषाओं में दोनों अर्थों के लिये एक ही शब्द है तो उनकी दरिद्रता हिन्दी के सिर क्यों लादी जाय? 'अवश्य' भी एक ऐसा ही शब्द है जिसके साथ बहुत अन्याय होता है। अमुक काम 'अवश्य' होगा, कहने में दबाव, अनिवार्य्यता, बेबसी का भाव टपकता है। परन्तु सर्वत्र यह भाव उद्दिष्ट नहीं होता। यदि मैं किसी से यह कहना चाहता हूँ कि आप शंका न करें, मैं आऊँगा तो वहाँ 'अवश्य' कहना ठीक न होगा, जब तक कि मेरा यह भी प्रयोजन न हो कि इच्छा न रहते हुए भी मुझे बरबस आना पड़ेगा। बहुत से स्थलों पर अवश्य की जगह 'निःसन्देह' को देनी चाहिये।

आज-कल बोल-चाल में, कभी-कभी लिखने में भी 'आशा' का बड़ा दुष्प्रयोग हो रहा है। आशा करता हूँ कि जब तक मैं पहुँचूँगा तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी होगी,—ऐसे भी वाक्य देखने-सुनने में आते हैं। लिखने-बोलने वाले भूल करते हैं कि भाषा में ऐसे ही अवसरों के लिये 'आशंका' जैसे शब्द विद्यमान हैं। महादेव के शिव, रुद्र, पशुपति, ईशान, विरूपाक्ष, अर्द्धनारीश्वर यह सभी नाम हैं; शक्ति को शाकम्भरी, चण्डी, सावित्री, मीनाक्ष, अम्बा जैसे अनेक नामों से पुकारा जा सकता है परन्तु प्रत्येक नाम स्थल विशेष पर ही ठीक जँच सकता है। कहीं लाल रंग को अरुण कहना ठीक होता है, कहीं रक्त। कपूर में दो गुण हैं—उसका रंग श्वेत होता है और खुले रहने पर यह जल्दी उड़ जाता है। संस्कृत और हिन्दी में उसके नाम के साथ श्वेतता की ही ध्वनि निकलती है, फ़ारसी और उर्दू में अचिर स्थायिता की। हिन्दी में रात्रि को कपूर से उपमा देने का यही अर्थ लगाया जायगा कि धवल चन्द्रिका छा गई, उर्दू में इस उपमा का अर्थ होगा कि रात जल्दी से बीत गई। इन बातों पर ध्यान न देने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

'ऋषि' भी उन शब्दों में हैं जिनके साथ आजकल बड़ा अन्याय होता है। 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारः'—जिन लोगों के द्वारा वेदों के मंत्र अवतरित हुए हैं उनको ऋषि कहते हैं।

हमारे जीवन में वेदों का जो अप्रतिम स्थान है उसको देखते हुए वेद-मन्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले इन महापुरुषों के लिए एक प्रथक् नाम होना कोई बुरी बात या बड़ी बात नहीं थी। अन्य मतों में भी पैगम्बर या प्राफ़ेट शब्द इसी प्रकार के व्यक्तियों के लिए छोड़ दिये गये हैं। पर आजकल यह दस्तूर चल पड़ा है कि नये मतों के प्रवर्तक ऋषि कहे जाँय। कभी-कभी राजनीतिक नेता भी ऋषि या ऋषिकल्प कहे जाते हैं। यह धाँधली है। जो लोग इन नये लोगों का आदर करते हैं वह उनको सुगमता से दूसरी उपाधियाँ दे सकते हैं। भृगु, वशिष्ठ, अङ्गिरा ऋषि थे पर उनकी कोई पूजा नहीं करता, राम-कृष्ण ऋषि नहीं थे परन्तु पुजते हैं। अवतार जैसी पुरानी उपाधियों से काम नहीं चलता

तो भाषा अभी बन्ध्या नहीं हुई है, नये शब्द गढ़े जा सकते हैं। जिस प्रकार जो सीना नहीं जानता उसको दर्जी कहना असाधु प्रयोग है उसी प्रकार जो मन्त्रद्रष्टा नहीं है उसको ऋषि कहना असाधु प्रयोग है।

यह थोड़े से उदाहरण मात्र हैं। सोचने से ऐसे और बहुत से शब्द मिलेंगे जो दुष्प्रयोग के कारण वाक्य के कलेवर को बिगाड़ देते हैं।

हम देख चुके हैं कि भाषा का प्रयोग श्रोता को प्रभावित करने के उद्देश्य से होता है। श्रोता में किसी भाव को जगाना प्रभावित करने का एक प्रकार है। वही भाव जगाये जा सकते हैं जो बीज रूप से श्रोता के अन्तःकरण में पहले से विद्यमान हों। इसलिए ऐसे शब्दों से काम लिया जाता है जिनमें गम्भीर ध्वनियाँ हों, जिनके वाच्यार्थ उभय पक्ष के अनुभव में आये हों, जिनको उभयपक्ष बोलते हों। इस कला को साम्प्रदायिक उपदेष्टा, राजनीतिक नेता सर्कारों के प्रचार-विभाग पत्रकार और कवि खूब जानते हैं। यहाँ 'कला' शब्द का प्रयोग मैंने कारण विशेष से किया है। जिन लोगों का अभी उल्लेख किया गया है। उनका उद्देश्य केवल पुरानी अनुभूतियों को जगाना, पुरानी स्मृतियों को पुनरुज्जीवित करना नहीं होता। स्मृति प्रत्यक्ष के बराबर तीव्र नहीं हो सकती। स्मृत सुख में वैसी मादकता, स्मृत दुःख में वह कसक नहीं होती जो उसमें उस समय थी जब उसकी अनुभूति प्रत्यक्षतः हुई थी। दुर्बल वेदनाओं को जगाकर क्या होगा, कवि और प्रचारक तो वतमान और अनागत के लिये तैयारी करते हैं, इस लए, वह अतीत से उतना ही काम लेना चाहते हैं जितना कि उस सीढ़ी से लिया जाता है जिस पर पाँव रखकर छत पर चढ़ना होता है। जिस उपाय से ऐसा किया जाता है वही लिखने-बोलने की कला है।

जब किसी मनुष्य के सामने कोई विषय आता है तो उसके अन्तः-करण पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसके दो अङ्ग होते हैं। कुछ तो दृश्य का स्वरूप अंकित होता है, कुछ उसके प्रति किसी न किसी प्रकार का भाव—राग, द्वेष या इनका कोई अवान्तर भेद उत्पन्न होता है। अनुभूति

या दर्शन-स्वरूप और भाव का योग है, इसीलिए एक ही वस्तु का अनुभव दो व्यक्तियों को कभी एक-सा नहीं होता, चाहे उनकी ऐन्द्रिय और बौद्धिक क्षमता में कोई भेद न हो। भावों में भेद क्यों होता है यह रोचक विषय है पर यहाँ हम उस पर विचार नहीं करते। गणित जैसे 'सूखे' विषयों से भी भाव को पृथक् नहीं किया जा सकता। गणितज्ञ को टेढ़े प्रश्नों से बुद्धि लड़ाने और अन्त में उन पर विजय पाने में बड़ा रस मिलता है परन्तु वह यह समझता है कि भावों से वस्तु के स्वरूप पर पर्दा पड़ता है। जो भावों की धारा में बह रहा हो, जिसके चित्त में स्त्री की मदनवासना-तर्पिणी मुद्रा भरी हो, वह उसके शरीर पर नश्तर चलाकर उसकी दैहिक बनावट को नहीं समझ सकता। अपने घर वालों का फोड़ा चीरने में चिकित्सक का हाथ काँप जाता है, कड़वी औषधि देते नहीं बनती। इसलिए वैज्ञानिक भावों को दबाना चाहता है; उसका प्रयत्न यह होता है कि यथासम्भव दृश्य के पारमार्थिक रूप को, उस रूप को जो द्रष्टा के अभाव में भी रहेगा, पहिचाने और दूसरों को भी पहिचनवाये। इसमें उसको कहाँ तक सफलता होती है यह तो दार्शनिक विषय है पर इस प्रयत्न में वह ऐसी भाषा से काम लेने का उद्योग करता है जिसमें 'मैं' को बहुत कम स्थान हो। इसीलिए वह शब्दों की जगह अंकों और चिह्नों को देता है और अंकगणित से, जिसमें ऐसी वस्तुओं का उल्लेख होता है जो मनुष्य को भली या बुरी लगती है, रेखागणित और बीजगणित को जिनमें केवल बिन्दु, अक्षर और रेखा से काम लिया जाता है, श्रेष्ठ मानता है।

कवि और प्रचारक भावों को जगाना चाहते हैं पर भावों को वस्तुओं से अलग नहीं किया जा सकता। राग, द्वेष, प्रेम, क्रोध किसी न किसी वस्तु के प्रति ही उदय होते हैं। इसलिए इनको जगाने के लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया जायगा उनसे बाहरी वस्तुओं का भी थोड़ा बहुत बोध होगा। कुशल वक्ता का, जो बोलने की कला जानता है, प्रयत्न यह होता है कि वस्तु का, शब्द के मूल अर्थ का, भान तनु और उसके गौण अर्थ का, ध्वनि का, भान उदार हो। भावाभिव्यक्ति कर्मप्रवृत्ति की

पहली सीढ़ी है। लोगों में देश-भक्ति, त्याग और कष्ट-सहन का भाव जगाने के लिये महाराणा प्रताप या शिवाजी या गुरु गोविन्दसिंह का यशोगान किया जाता है। इन लोगों का इतिवृत्त इतिहास की पुस्तकों में सविस्तर दिया रहता है। इनके जन्म लेने से अन्तिम सांस जोड़ने तक का ब्योरा मिलता है परन्तु इस सारे वर्णन से चित्त इन लोगों पर, इनके कामों पर, इनके समय की परिस्थियों पर जम जाता है और उसकी वृत्ति उस चिकित्सक की-सी रस-शून्य हो जाती है जो प्रयोगशाला में मुर्दे को चीरता है। कवि भी शब्दों से ही काम लेता है। उसकी रचना में भी इनके, इनके साथियों और शत्रुओं के, इनके युद्धस्थलों के नाम आते हैं पर चित्त इन वस्तुओं में उलझने नहीं पाता। परिणाम यह होता है कि इन वस्तुओं के वाचक शब्दों की ध्वनियाँ खुलकर सामने आती हैं और एक दूसरे में मिलकर उस बलवती ध्वनि, उस तीव्र भाव को जन्म देती हैं जिसका जगाना सारी रचना का अभीष्ट होता है। पर्वत, नदी, वन, वायु, वर्षा का वर्णन भूगोल की पुस्तक में भी मिलता है और काव्य की पुस्तक में भी ; परन्तु दोनों प्रकार के वर्णनों में महान् अन्तर होता है। भूगोल की पोथी का लक्ष्य प्राकृतिक दृश्यों का फ़ोटो खींचना होता है। कवि उनको अनुकूल भावों के जगाने का साधन बनाता है। इस प्रकार श्रोता को ऐसे भावों का अनुभव कराया जा सकता है जिनकी अनुभूति उसको पहले न थी; इसी कला के सहारे साधारण मनुष्य जो नित्यप्रति, के व्यवहारों में भावुक नहीं प्रतीत होते, ऊँची से ऊँची आत्मबलि करने के लिये सन्नद्ध बना दिये जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि वाक्य का अर्थ, वह प्रभाव जिसका उत्पादन उसका अभीष्ट है, उसके अवयवभूत शब्दों के वाच्यार्थों से पृथक् भी हो सकता है। 'यहाँ सिंह है' में सिंह में अस्तित्वमात्र का व्यपदेश है परन्तु श्रोता इस वाक्य को केवल परिस्थितियों का परिचायक नहीं समझता। सिंह के साथ जो व्याघात की ध्वनि लगी हुई है वह उसको तत्काल सतर्क कर देती है। इतना ही नहीं, वक्ता की मुद्रा या उसके काकु यह सतर्कता भय का रूप ग्रहण कर सकती है। 'यहाँ सिंह है' इन

तीन शब्दों के वाच्यार्थ के पीछे वक्ता का अभीष्टार्थ 'भागो' विद्यमान है। इस प्रकार नये अर्थ का द्योतन प्रयोक्ता के कौशल पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष बातचीत में तो काकु आदि से भी वक्ता को सहायता मिलती है परन्तु लिखित काव्य में केवल रचना-चातुर्य का भरोसा होता है। बोलते तो सभी हैं परन्तु शब्दों की प्रत्यक्ष और परोक्ष शक्ति से कोई गुणी ही काम ले सकता है।

श्रोता के ज्ञान की वृद्धि करके भी उसे प्रभावित किया जाता है। परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में भाषा की शक्ति इतने तक ही परिसीमि . नहीं है कि वह पूर्वस्थित ज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे तक पहुँचा दे तर्क की सहायता से भाषा हमारे ज्ञानभंडार में वृद्धि करती है। मैंने बहुत-सी नीली वस्तुएँ देखी हैं, इसलिए नील शब्द के वाच्यार्थ को जानता हूँ; कमल भी छोटे, बड़े, लाल, पीले अनेक देखे है इसलिए इस शब्द का वाच्यार्थ भी परिचित है। जब में 'नील कमल' कहता हूँ तो बिना ऐसा फूल देखे भी उसके सम्भव गुणों से परिचित हो जाता हूँ। यह ज्ञान प्रत्यक्ष सापेक्ष है, अन्यथा नील कमल भी गधे की सींग की भाँति अभाव का वाचक हो जायगा परन्तु यदि प्रत्यक्ष का अविषय न हुआ तो नील कमल के गुण वही होंगे जो हमारे ध्यान में शब्द के सुनने से आ गये थे। कोई अपरिचित मनुष्य लोगों के सामने आता है। उसके विषय में जाँच करके मैं कहता हूँ कि यह हिन्दू है या धोबी है या हबशी है; तत्काल सुनने वालों को उसके बहुत से गुणों का पता चल जाता है। एक नया खनिज मिलता है। उसकी परख करके रसायनवेत्ता कहता है कि इसमें ८०% लोहा है। तत्काल यह बात जान ली जाती है कि उसका किस-किस प्रकार और क्या-क्या उपयोग किया जा सकता है। किसी पशु के सम्बन्ध में यह सुनते ही कि यह जरायुज है हमको उसके शरीर के गठन तथा जीवन-चर्य्या आदि के सम्बन्ध में कई बातें ज्ञात हो जाती हैं। इस प्रकार भाषा हमारे संचित ज्ञान-भंडार में नया ज्ञान जोड़ती है। भाषा का आधार श्रोता-वक्ता का पुराना अनुभव, पुराना ज्ञान होता है, अन्यथा वह भाषा न होकर निरुद्देश्य

स्वरों का समूहमात्र होती परन्तु उसके द्वारा नया ज्ञान प्राप्त हो सकता है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। यदि भाषा का साधु प्रयोग हुआ है तो हमको यह पक्का विश्वास रहता है कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष की कसौटी पर ठीक उतरेगा, अर्थात् सत्य होगा।

किसी ने कहा है कि भाषा विचारों को छिपाने का साधन है। कुछ दूर तक यह बात भी ठीक है। जिस प्रकार थोड़ा-सा कहकर बहुत से अर्थ का बोध कराया जा सकता है—'सुन्दरता मरजाद भवानी' कहकर तुलसीदासजी ने कल्पना की लम्बी से लम्बी दौड़ के लिये मैदान खोल दिया है—उसी प्रकार बहुत से शब्दों को इस भाँति बहाया जा सकता है कि उनमें से एक बूँद भी अर्थ न निकले। राजदूतों, पत्रकारों, राजनीतिक नेताओं, उन सब ऐसे लोगों को जिनको समय-समय पर अनिवार्यतया बोलना पड़ता है, चाहे इच्छा हो चाहे न हो, इस प्रकार बोलने का अभ्यास पड़ जाता है। जो पुस्तक रुपया कमाने के लिये लिखी जाती है उसकी भी यही दशा होती है। विश्वविद्यालयों के छात्रों को कभी-कभी ऐसे अध्यापकों से पाला पड़ जाता है जिनकी जिह्वा घड़ी के पुरजों की भाँति बराबर चलती रहती है, परन्तु उनके घंटे भर बोलने का निचोड़ कुछ नहीं के बराबर होता है।

यह दार्शनिक निबन्ध नहीं है, इसलिए शब्द, वाक्य, शब्दार्थ और वाच्यार्थ के, सम्बन्ध में सविस्तार विवेचना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, परन्तु इतना संकेत कर देना अनुचित न होगा कि यह सारे प्रश्न बहुत ही जटिल हैं। 'मनुष्य' का वाच्यार्थ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये एक बड़ी पोथी लिखनी होगी, फिर भी उसमें उन बातों का समावेश स्यात् न हो पावेगा जिनका प्राणिशास्त्र और समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, धमशास्त्र जैसी विद्याओं से प्राप्त होता है। मैं मनुष्य हूँ, आप मनुष्य हैं, गोविन्द मनुष्य है, हिटलर मनुष्य है, पर हम सब में कोई भी शब्द का शुद्ध वाच्यार्थ नहीं है, सब वाच्यार्थ के प्रथक उदाहरण मात्र हैं। यही बात सब जातिवाचक नामों के लिये लागू है। द्रव्यवाचक नामों की भी कुछ ऐसी ही दशा है। मेरी लड़की का

नाम मीनाक्षी था। जब जन्म हुआ तब भी मीनाक्षी थी, घुटनों चलती थी तब भी मीनाक्षी थी, स्कूल जाती तब भी मीनाक्षी थी, इहयात्रा समाप्त करते समय भी मीनाक्षी थी। प्रतिक्षण वय बदलता रहा, चेष्टा बदलती रही। जो मीनाक्षी एक बार थी, वह दूसरी बार नहीं रही। इस शब्द का सच्चा वाच्यार्थ तो इन सब मीनाक्षियों का योग हो गया। यों जब मैं 'मीनाक्षी' कहता हूँ तो मूर्त्ति मेरे चित्त में उदय होती है वह इस नाम के वाच्यार्थ का एक अंशमात्र है।

सच पूछा जाय तो प्रत्येक शब्द एक प्रकार से जातिसूचक, दार्शनिक परिभाषा में, 'सामान्य' है। मैं कहता हूँ 'घोड़ा,' आप भी कहते हैं 'घोड़ा'। साधारण व्यवहार मे यह कहा जायगा कि हम दोनों एक ही शब्द का उच्चारण कर रहे हैं पर ऐसा तो नहीं है। उच्चारण के समय में भेद है, उच्चारण करने वाले मुँह भिन्न है, उच्चरित स्वर भिन्न हैं। अतः दोनों स्वर एक नहीं है। मेरे ही मुँह से जो दो बार निकला हुआ 'घोड़ा' शब्द एक नहीं हो सकता। इन सब स्वरों में साम्य का होना निर्विवाद है पर यह साम्य उसी प्रकार का है जैसा कि दो उन प्राणियों में होता है जिनको हम इस साम्य के कारण घोड़ा कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि घोड़ा शब्द भी जाति या सामान्य का बोध कराता है। बार-बार एक ही 'घोड़ा' शब्द बोला जाता है कहने का अर्थ इतना ही है कि बार-बार उस जाति का स्वर किया जाता है जिसको घोड़ा कहते हैं। प्रत्येक बार का उच्चरित स्वर उस सामान्य का उदाहरणमात्र है।

दूसरा महत्त्व का प्रश्न यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है या अनित्य। नित्यता की परख अन्वय व्यतिरेक के आधार पर हो सकती है। यदि किसी शब्द विशेष के उच्चारण से अथ-विशेष का भान स्वतः हो जाय और उच्चारण के अभाव में न हो तो मानना होगा कि उस शब्द का उस अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है। यदि वह सम्बन्ध नहीं मिलता तो फिर सम्बन्ध अनित्य और व्यवहारमूलक होगा अर्थात् लोगों में यह परम्परा किसी प्रकार चल पड़ी होगी कि इस वस्तु को इस नाम से पुकारा जाय। एक मत यह भी है कि यद्यपि साधारण

शब्दों का अर्थों के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है तथापि शब्दों के अवयवभूत मूल स्वरों का अर्थ विशेषों के साथ नित्य सम्बन्ध है। यह अर्थ भी स्थूल अर्थ नहीं प्रत्युत सूक्ष्म अर्थ हैं जो वासना और भावना के रूप में हमारे जीवन-व्यापार को चलाते हैं। इसी संगीत का, जिसमें मूल स्वरों से ही काम लिया जाता है, प्रभाव ऐसे मनुष्यों पर भी पड़ता है जो गायक की भाषा को नहीं जानते। पशु-पक्षी तक स्वरों के प्रयोग से प्रभावित किये जा सकते हैं।

हमने ऊपर देखा है कि वर्णनात्मक वाक्य में आख्यात के द्वारा नाम के विषय में कुछ व्यपदेश होता है। व्यपदेश पर विचार करने के पहले वाक्य के स्वरूप पर एक दृष्टि डालनी चाहिये। वाक्य शब्दों का समूह है पर यह समूह उस जाति का जिस जाति के समूह प्राणि जगत में पाये जाते हैं। भौतिक जगत में अवयवी अपने अवयवों के योग से बड़ा होता है। सजीव ही नहीं, अजीव जगत में भी इस बात के उदाहरण मिलते हैं। नदी जल-बिन्दुओं का योगमात्र नहीं है। उसमें तरंग, प्रवाह, आह्लादकता, भयोद्दीपकता आदि जो गुण हैं वह बिन्दुओं में अंशतः भी नहीं मिलते। मनुष्य, हड्डी, मांस, चमड़ा, मस्तिष्क आदि का योगमात्र नहीं हैं। इसी प्रकार वाक्य भी शब्दों का योगमात्र नहीं है, उसका अपना व्यक्तित्व होता है। जो सूत्रात्मा की भाँति उसके शब्दों में अनुस्यूत रहता है। 'कुत्ता चूहा खा गया' और 'चूहा कुत्ता खा गया' इन दोनों में वही चार शब्द आये हैं। भौतिक दृष्ट्या इनमें कोई भेद नहीं है पर हमको तत्काल यह प्रतीति होती है कि दोनों वाक्य एक नहीं है। दोनों का व्यक्तित्व, अर्थयोजक सूत्र अलग-अलग है। परन्तु शब्दों के भिन्न होने पर भी एकवाक्यता हो सकती है। 'कुत्ता चूहा खा गया', 'मूषकः कुक्कुरेण भक्षितः'—यह वस्तुतः विभिन्न रूपों में एक ही वाक्य है, क्योंकि वाक्यार्थ एक ही है।

अब व्यपदेश को लीजिये। मैंने पहले कहा कि वाक्य में आख्यात के द्वारा नाम के सम्बन्ध में कोई नई बात, ऐसी बात जो श्रोता को ज्ञात नहीं थी, बतलाई जाती है। 'अमुक तिथि को दिन के ११॥

बजे मीनाक्षी की मृत्यु हुई' देखने में सीधा-सा वाक्य है। इसका अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। मैं यह नहीं कहता कि अर्थ स्पष्ट नहीं है। परन्तु इसका विश्लेषण करने से इसकी जटिलता का कुछ पता चलता है। काल की एक अविछिन्न धारा जगत की रचना के आरम्भ से ही चली आ रही है। उस धारा में 'अमुक तिथि को दिन में ११॥ बजे' एक विन्दु है। इस विन्दु पर कई घटनाय हुई परन्तु वहाँ हम उनमें से केवल एक पर ध्यान देते हैं। यह है मीनाक्षी की मृत्यु। करोड़ों जीव मर चुके मर रहे हैं और मरेंगे। सब प्राणियों की जीवधारा कहीं न कहीं कटती है। कटने के सब ढंग एक से नहीं होते पर उनमें कुछ न कुछ सादृश्य होता है, अतः उन सबको मृत्यु शब्द का वाच्य मान लेते हैं। यों कह सकते हैं कि मृत्यु प्राप्त, मृत व्यक्तियों की एक लम्बी माला है जिसमें बराबर नये दाने पुहते रहते हैं इसी प्रकार एक माला या रेखा उन मूर्तियों की है जो सब मिलकर मीनाक्षी शब्द का वाच्यार्थ है। यह तीन रेखायें एक जगह मिलती हैं, एक दूसरे को काटती हैं। तीन रेखाओं से मेरा तात्पर्य्य काल रेखा, मृत-प्राणि रेखा और मीनाक्षी रेखा से है। इसी बात को हम अमुक समय पर मीनाक्षी का मरना कहते हैं। उस क्षण पर मीनाक्षी शब्द के वाच्यार्थ की अंगभूत एक मूर्ति विशेष मृत प्राणी शब्द के वाच्यार्थ के अन्तर्गत हो गई।

अर्थ के इस प्रकार के स्पष्टीकरण में हम कई बातों को मान लेते हैं। यहाँ उन पर विचार करके भी उनकी ओर संकेत करना उचित होगा। काल को लीजिये। काल क्या है? उसको कोई पारमार्थिक सत्ता है या वह हमारा बौद्धिक विकार है या दिक् की ही एक दिशा है? इसे भी छोड़िये, काल की नाप कैसे हो? पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। परन्तु सूर्य स्वयं चल है, अतः पृथ्वी जिस स्थान पर एक बार होती है वहाँ फिर कभी लौटकर नहीं आती। जब कोई स्थिर बिन्दु नहीं है तो काल-प्रवाह कैसे नापें? जगत् का आदि कैसे हुआ? 'जगत की उत्पत्ति के पहले' से ही यह बात निकलती है कि तब भी काल था, क्योंकि पहले पीछे का व्यवहार काल में ही हो सकता है। फिर काल की नाप कब से हो?

और नीचे के स्तर पर उतरने से भी कई कठिनाइयाँ रह जाती हैं। पृथ्वी के बाहर की बात तो दूर रही, पृथ्वीतल पर भी न तो सब जगह एक साथ दिन होता है, न एक साथ १।। बजते हैं। इसलिए जब तक स्थान का निर्देश न हो तब तक समयनिर्देश पर्याप्त नहीं हो सकता।

दूसरी बात हम यह मान लेते हैं कि जिन नामों के विषय में कुछ व्यपदेश होता है उनके वाच्यार्थों का अस्तित्व है और व्यपदिष्ट की भी सत्ता है। 'यह कमल नीला है' कहते समय यह मान लिया जाता है कि कमल भी है और वर्ण भी है। पर इस बात का क्या प्रमाण है? कमल की अमुक आकृति होती है, अमुक गन्ध होती है, ऐसी कोमलता होती है, यह तो हम बोलते हैं परन्तु वस्तुतः कोमलता, गन्ध आकार और रंग यह सब वह विकार हैं जो इन्द्रियों के द्वारा हमारे चित्त में उत्पन्न होते हैं। अन्यमनस्क या विकलेन्द्रिय के लिये इनमें से किसी भी विकार का लोप हो सकता है। नीलवर्ण भी ऐसा ही विकार है। अतः व्यपदेश और व्यपदिष्ट, कमल और नीलवर्ण दोनों हमारी बुद्धि में हैं। व्यपदेश एक विकार में दूसरे विकार का हो रहा है। तर्क से हमको ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न प्रकार के विकारों के उत्पन्न होने के लिये विभिन्न कारण होने चाहिये। और यह कारण कहीं न कहीं अन्तःकरण के बाहर होने चाहिये, अन्यथा कई अन्तःकरणों में युग पर एक ही प्रकार के विकार न उत्पन्न होते। इस तर्क मे तथ्य भले ही हो पर इससे किसी वाह्य-जगत में कुछ का अस्तित्व या कुछ पदार्थों का अस्तित्व अनुमित हो सकता है, कमल के फूल और नीले रंग का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। यह भी विचारणीय है कि यह अनुभव करने वाला 'मैं' क्या है।

इन कठिनाइयों को जाने दीजिये। इतना ही स्मरण रखिये कि यदि काल और वाह्य जगत् के प्रतीमान रूपों के सम्बन्ध में सन्देह के लिये स्थल है तो फिर हमारे सारे अनुभव और उनका वर्णन, शब्द, वाक्य, भाषा अर्थ यह सभी शंकास्थल में पड़ जाते हैं। हम कहते हैं कि अमुक

वाक्य सत्य है, अमुक झूठा है। 'कुत्ता चूहा खा गया' सत्य हो सकता है, 'चूहा कुत्ता खा गया' सत्य नहीं हो सकता। यहाँ सत्य-असत्य का, अर्थ क्या है और कसौटी क्या है? स्वयं अपने से कोई वाक्य सच-झूठ का परिचय नहीं देता। 'चूहा कुत्ते को खा गया' सुनने में बुरा नहीं लगता, लिखने में कष्ट नहीं देता। अकेले वाक्य को लेकर सच-झूठ का निर्णय करना कभी-कभी कैसा कठिन हो सकता है इसको दिखलाने के लिये एक उदाहरण दिया जाता है जिसे 'झूठे की प्रहेलिका' कहते हैं। वह कुछ इस प्रकार से है। एक मनुष्य कहता है 'मैं इस समय झूठ बोल रहा हूँ।' उस समय उसके मुँह से यह एक ही वाक्य निकला था। अब यदि यह वाक्य झूठ है तो उस मनुष्य ने ठीक कहा अर्थात् वह सच बोला और यदि वाक्य सच है तो वह झूठ बोला। इसको यों कह सकते हैं कि यदि वह झूठा है तो सच्चा है और यदि सच्चा है तो झूठा है। अस्तु, वाक्य के सच-झूठ की परख बाहर से करनी होगी। पहिले तो यह देखना होगा कि हम वाक्य में सार्वभौम सत्यता आरोपित करते हैं या एक-देशीय। यह स्पष्ट होना चाहिए कि हम क्या कहना चाहते हैं, सब कुत्ते चूहों को खागये, सब कुत्ते एक चूहे को खागये, एक कुत्ता सब चूहों को खा गया या एक कुत्ता एक चूहे को खा गया। हमारे उद्देश्य के निश्चित होने पर ही सच झूठ की जाँच आरम्भ हो सकती है। जाँच के कई उपाय हैं जिनको मुख्यतः परिभाषामूलक, तर्कमूलक और ऐतिह्य कह सकते हैं। यहाँ पर हम उन वाक्यों पर विचार नहीं कर रहे हैं जिनमें हमारे निजी ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूतियों या विकारों का वर्णन रहता है। इनकी सत्यता का तो हमको अपरोक्ष ज्ञान होता है। 'यह लड़की अण्डे में से तीसरे सप्ताह में निकली' झूठ है, क्योंकि मनुष्य शब्द की परिभाषा के अनुसार प्रत्येक मानव-सन्तान जरायुज ही होगी, अण्डज नहीं। यहाँ असत्यता निर्धारित करने के लिये परिभाषा ही पर्य्याप्त है, और कोई परख करना अनावश्यक है। कुछ वाक्यों की सत्यता-असत्यता, तर्क अर्थात् अनुपात के बल पर निर्धारित

की जा सकती है। दूरस्थ पहाड़ पर धुआँ देखकर अग्नि की सत्ता का अनुमान किया जाता है। सारे गणितशास्त्र के मन्तव्यों की सत्यता तर्कमूलक है। क्योंकि क है, इसलिए ख है, क्योंकि क नहीं हैं, इसलिए ग नहीं है, गणित में सत्य की यही कसौटी है। कुछ बातों को स्वतः सिद्ध मान लिया गया है, जैसे 'यदि दो चीजें किसी तीसरी चीज़ के बराबर हों तो वह एक दूसरे के बराबर होंगी। 'बस' इन थोड़े से स्वतः सिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर सारा तर्क खड़ा होता है। तर्क के द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो सम कोणों के बराबर होता है। किसी त्रिभुज को देखते ही हम मान लेते हैं कि इसके कोणों का योग दो समकोण है। एक बार मूल सिद्धान्तों को मान लेने पर बहुत-सी बातों की सत्यता-असत्यता तर्क से जानी जा सकती है। जो बात उन मूल सिद्धान्तों से निष्पन्न होती है वह सत्य है, जो नहीं निकलती वह असत्य है।

अनुभव मूलक परख को ऐतिह्य कहते हैं। इसका आधार है इतिहास, घटनाक्रम। राम ने रावण को मारा, जायसी ने पद्मावत लिखा—इन वाक्यों की सत्यता इसमें है कि यह घटनाएँ घटी थीं। किसी तर्क से यह बात नहीं निकाली जा सकती कि गान्धीजी के पिता का नाम कर्म्मचन्द्र था। ऐतिह्य परीक्षा कुछ तो हम स्वयं करते हैं, कुछ आप्त पुरुषों की बात को मान लेते हैं। सायण को वेदभाष्य लिखते मैंने नहीं देखा परन्तु, ऐसे लोग जो देख सकते थे और जहाँ तक मैं जानता हूँ मिथ्यावादी न थे, ऐसा लिख गये हैं, इसलिए मैं इसे सत्य मान लेता हूँ। बहुधा हम ऐसी बातों में भी आप्त वाक्य को ऐतिह्य प्रमाण मान लेते हैं। जहाँ स्वयं परीक्षा करना सुकर है। कितने लोगों ने १९×७=१५३ को गिन कर देखा है? अपने मुंह के बत्तीस दाँतों को कितने लोगों ने गिना है? जिन वाक्यों में सार्वभौम रूप का व्यपदेश होता है अर्थात् जिनमें 'सब' के विषय में कुछ कहा जाता है उनकी असत्यता तो ऐतिह्य से सिद्ध हो सकती है पर सत्यता केवल तर्क से पुष्ट हो सकती है। 'सब त्रिभुजों के कोण दो समकोणों के बराबर

होते हैं, में सार्वभौम व्ययदेश है। यदि हमको एक भी ऐसा त्रिभुज मिल जाय जिसके कोणों का योग दो समकोणों से कम या अधिक हो तो वाक्य की असत्यता सिद्ध हो जायगी परन्तु अनुभव इसकी सत्यता सिद्ध नहीं कर सकता। अनुभव के बल पर इसकी सत्यता की परख तब हो जब हम एक ओर तो विश्व के सब त्रिभुजों के योगों की परीक्षा करें, दूसरी ओर विश्व भर की उन समस्त सभुज आकृतियों को, जिनके कोणों का योग दो समकोणों से कम या अधिक होता हो, लेकर देखें कि उनमें से कोई त्रिभुज तो नहीं है। यह काम हमारी शक्ति के बाहर है।

किसी-किसी वाक्य की सत्यता की प्राप्ति हमको एक विशेष प्रकार के अनुभव द्वारा होती है। इसे प्रतिभा कहते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सदा स्वगत रहता है, दूसरे किसी को इसका भोक्ता नहीं बनाया जा सकता। किसी मनुष्य को देखते ही चित्त में एक ऐसी भावना उठती है जिसको हम इन शब्दों से व्यक्त कर सकते हैं 'यह मनुष्य बड़ा दुष्ट है'। उस समय तक हमको उसके किसी दुष्कर्म का पता न हो पर हमारे लिये यह वाक्य सत्य है। घटनायें पीछे से इस सत्यता का समर्थन कर दें पर हमको तो प्रातिभ अनुभव से ही पहली सूचना मिली थी। प्रयोक्ता के लिये सत्य होते हुए भी ऐसे वाक्य श्रोता के लिये असत्य हो सकते हैं।

वह शास्त्र-चर्चा, जिसकी ओर यहाँ थोड़ा-सा संकेतमात्र कर दिया है, किसी-किसी को रूखा और अनावश्यक प्रतीत हो सकता है। वस्तुतः यह बात नहीं है। जिस उपकरण से काम लिया जाता है उसके सम्बन्ध में जितनी ही जानकारी होगी उतना ही उसका उपयोग अच्छा होगा। कुशल चालक अपनी मोटर के कल-पुर्जों की बनावट को भी समझता है। प्रत्येक वाक्य पर रुकने की जरूरत नहीं है। परन्तु जो लोग भाषा जैसे सूक्ष्म यंत्र से काम लेना चाहते हैं, उनको चाहिये कि इस प्रश्न का भी अध्ययन करें कि शब्द, वाक्य, और अर्थ में क्या सम्बन्ध है, किसी वाक्य की सत्यता या मिथ्यात्व की जाँच किन कसौटियों पर हो सकती है, सत्य किसे कहते हैं, उस जगत का

स्वरूप क्या है जिसके अँग श्रोता ,वक्ता दोनों हैं तथा उस जगत में वक्ता का स्थान क्या है। मूर्ख और पण्डित सभी बोलते हैं परन्तु भाषा के भीतर विश्व का रहस्य छिपा है।

यह एक रोचक प्रश्न है कि नजात्मक वाक्यों की, उन वाक्यों की जिनके व्ययदेश में 'नहीं' होता है, सत्यता कैसे परखी जाती है। यदि कोई कहे कि यह कपड़ा लाल है, तो इस वाक्य की तो ऐतिह्य परीक्षा हो सकती है परन्तु 'यह कपड़ा लाल नहीं है' में हम क्या करते हैं। 'लाल नहीं हरे-पीले' की भाँति कोई स्वतन्त्र सत्ता रखता है या लाल का अभाव मात्र है ? किसी वस्तु को देखकर हमारे अनुभव का स्वरूप कैसा होता है—'यह पीली है', 'यह हरी है', 'यह श्वेत है,' इत्यादि या 'यह लाल नहीं है' यह लाल नहीं है, 'यह लाल नहीं है' ? यदि लाल 'नहीं' स्वतन्त्र रूप से अनुभवगत नहीं है तो उसका कपड़े में व्ययदेश कैसे होता है और जिस वाक्य में यह आता है उसकी सत्यता कैसे जाँची जाती है ?

ऐसे भी वाक्य होते हैं जिनके लिये सत्य-असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनमें वस्तुतः कोई व्ययदेश नहीं होता। जानकर या बेजाने, लिखने-बोलने में ऐसे वाक्य बहुत आते हैं। कोई कहता है यह जगत् मृगमरीचिका या आद्यन्तहीन रौद्ररस प्रधान नाटक हैं। सुनने में वाक्य अच्छा लगता है परन्तु है इसमें केवल शब्दाडम्बर। यदि जगत् को मृगमरीचिका कहा जाता तो एक बात थी उसे आद्यन्तहीन रौद्ररस प्रधान नाटक कहा जाता तो भी एक बात होती। दोनों अवस्थाओं में हम किसी न किसी प्रकार कथन की सत्यता की परीक्षा करते पर इस 'या' ने सब बिगाड़ दिया। वस्तुतः इस वाक्य में जगत् के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है 'या' के द्वारा वक्ता की मानस द्विविधा, अस्थिरता, अनैकान्तता निःसन्देह व्यक्त हो रही है।

हम कह आये हैं कि बहुत से वाक्यों की सत्यता तर्क के द्वारा निर्णीत होती है परन्तु तर्क के मूल में जो सिद्धान्त होते हैं उनकी

सत्यता का कोई पुष्ट आधार बताना कठिन है। इसका क्या प्रमाण है कि यदि दो चीजें किसी तीसरी चीज के बराबर हों तो वह एक दूसरे के बाराबर होंगी ? किसने सारे विश्व में इसकी परीक्षा की है ? पर यदि यह सार्वभौम नहीं है तो फिर दूसरे वाक्यों के लिये कसौटी नहीं हो सकता।

इसलिए लेखक और वक्ता को चाहिए कि यथासम्भव ऐसे वाक्यों का प्रयोग न करें जो केवल उसको स्वतः सिद्ध प्रतीत होते हों, क्योंकि यदि वह दूसरों को भी स्वतः सिद्ध प्रतीत न हुये तो फिर वह और उनके आधार पर खड़े दूसरे वाक्य असत्य प्रतीत होंगे।

कुछ वाक्यों की सत्यता वक्तृसापेक्ष्य होती है। वह सब वाक्य जिनमें अब, वह, यहाँ जैसे आत्मसापेक्ष शब्द आते हैं इसी वर्ग के होते हैं। एक का अब दूसरे का तब है, एक का यह दूसरे का वह है, एक का यहाँ दूसरे का वहाँ है। यही गति ऊपर, नीचे, दहिने, बाँये, आगे, पीछे की है। इनका प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि पढ़ने पर सुनने वाले के लिए इनके द्वारा बने वाक्यों ही का अर्थ सत्य नहीं हो सकता। इन शब्दों से काम लेना ही पड़ता है पर काम लेने का ढंग ऐसा होना चाहिए कि उससे इनकी एकदेशीयता छिप न जाय।

सच बात तो यह है कि ऐसा वाक्य बोलना या लिखना बहुत कठिन है जिसकी सत्यता सार्वभौम, निर्विवाद और निरपेक्ष हो। हम 'साढ़े तीन' का ग्रहण बुद्धि से कर सकते हैं। यह तीन और चार का मध्यविन्दु है। इसी प्रकार 'तोला' भी बुद्धि ग्राह्य है पर जब हम किसी सोने के टुकड़े के विषय में यह कहते हैं कि 'इसका तौल ३॥ तोला है' तो वह वाक्य पूर्णतया सत्य नहीं है। आज तक ऐसा कोई तराजू नहीं बना जो ठीक ३॥ तोला बतला सके। जितने ही अच्छे तराजू से हमने काम लिया होगा उतना ही हमारा वाक्य सत्य के समीप पहुँचेगा परन्तु सोने के टुकड़े का तौल ठीक ३·५ तोला न होकर ३·४ और ३·६ के बीच में कहीं होगा। गोल के परिधि को हम समझते हैं और

व्यासार्ध को भी समझते हैं। यह भी समझते हैं कि व्यासार्ध और परिधि की लम्बाई में कोई निश्चित सम्बन्ध है पर इस सम्बन्ध की सूचना जिस किसी अंक से दी जाय वह पूर्णतया सत्य न होगा। इस एक चीज़ को समय-समय पर ३.१६२२७........ ....अनन्त, ३.१४२८५ ....अनन्त और ३.१४१५६ ....अनन्त से प्रकट किया गया है। इन्द्रिय और यंत्र की शक्ति और अधिक बढ़ने से इसी कोटि की कोई और संख्या दी जा सकेगी पर वह भी इदमित्थमेव रूप से ठीक न होगी।

हमने ऊपर इस बात पर बार-बार जोर दिया है कि भाषा सार्वजनिक सम्पत्ति है और उसका अर्थ सार्वजनिक अनुभव का विषय होता है परन्तु नये शब्द और पुराने शब्दों के नये प्रयोग को नई कृति भी कह सकते हैं। वह व्यक्ति विशेष की ओर से समाज को देन होता है। इस कृति की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि उस व्यक्ति को कोई ऐसी अनुभूति होती है जिसकी व्यंजना किसी विद्यमान शब्द से नहीं होती। अनुभूति मानस-क्षेत्र में भी हो सकती है और इन्द्रियगोचर जगत् में भी। दोनों ही अवस्थाओं में वह अनुभूति इस द्रष्टृदृश्यात्मक विश्व का अंग होगी। पूर्ण ज्ञान तो तब ही हो सकता है जब द्रष्टा को समस्त दृश्य का अपरोक्ष ज्ञान हो; जब, दूसरे शब्दों में, द्रष्टा और दृश्य का भेद ही मिट जाय। ज्ञान की उस सर्वोच्च भूमिका तक पहुँचने के पहले जो भी ज्ञान होगा वह अपूर्ण होगा। हम सत्य का जो भी स्वरूप स्थिर करेंगे वह सदोष होगा। जितना ही हमको द्रष्टा के स्वरूप और उसके व्यापार का, दृश्य के स्वरूप और उसके विस्तार का, तथा द्रष्टा और दृश्य की क्रिया-प्रतिक्रिया का बोध होता है उतना ही हमारे ज्ञान की कमी पूरी होती है। प्रत्येक नई अनुभूति हमको पूर्ण सत्य के कुछ निकट ले चलती है। कवि, वैज्ञानिक, योगी, दार्शनिक सभी पृथक मार्गों से उसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। इस लम्बी यात्रा में प्रत्येक नया शब्दव्यूह, जो किसी वास्तविक नई अनुभूति के द्योतन के लिए रचा जाता है प्रगति का सूचक होता है। वह सड़क के किनारे लगे उस

पत्थर के समान होता है जो यह बतलाता है कि बटोही कितनी दूर चल चुका है। परन्तु उसमें पत्थर से एक विषमता होती है। पत्थर केवल चले मार्ग की नाप बताता है, शब्द नये मार्ग का आदिबिन्दु बन जाता है। विचार की धारा के आगे बढ़ने से नये शब्दों का निर्माण होता है परन्तु प्रत्येक ऐसे शब्द से एक नई विचार-धारा फूट पड़ती है। एक विचार दूसरे विचारों से टकराता है, दोनों मिलते हैं, एक से दूसरे पर प्रकाश पड़ता है, इस प्रकार अर्थ में विशदता, गम्भीरता, विश्वतो मुखता आती जाती है। उधर शब्द भी प्रतिदिन गौण अर्थों को अपनी परिधि में लेता जाता है। ज्यों-ज्यों उसकी ध्वनि व्यापक होती जाती है त्य-त्यों उसकी प्रभावक शक्ति बढ़ती जाती है। शब्द और अर्थ की यह समानान्तर वृद्धि मनुष्य को उस ज्ञान की ओर संकेत करती है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद नहीं रह जाता, उस सत्य की ओर बढ़ाती है जिसमें वाच्य वाचक एक हो जाते हैं।

परन्त नये अर्थ के लिये नये शब्द का निर्माण करना सुकर नहीं होता। या तो किसी पुराने शब्द से ही काम लिया जाता है या कुछ पुराने शब्दों को मिलाकर नया शब्द बनाया जाता है या किसी पुराने धातु से व्याकरण के नियमों के अनुसार नया शब्द बनाया जाता है। कुछ भी किया जाय, नया शब्द पूर्णरूपेण नया नहीं हो पाता, वह जन्म से ही पुराने अर्थ को ध्वनि रूप में ओढ़े आता है। आज से सहस्रों वर्ष पहले साँस को प्राण कहते थे। पीछे चलकर एक नई अनुभूति के लिये शब्द की खोज हुई। हमारे सारे शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है। इनके ही द्वारा हमको बाहरी विषयों का ज्ञान होता है और हम बाहरी वस्तुओं पर कोई क्रिया करने के लिये अपनी कर्म्मेन्द्रियों को प्रवृत्त कर सकते हैं। जब तक यह नाड़ियाँ प्रस्फुरित होती रहती हैं तब तक चित्त चंचल रहता है। इनमें जो शक्ति दौड़ती रहती है यदि वह इनमें से खींच ली जाय तो यह स्तब्ध हो जायँगी और चित्त भी बहुत कुछ शान्त हो जायगा। इसी उद्देश्य से योगी अभ्यास करता है। नाड़ियों में दौड़ने वाली शक्ति के लिये नाम की आवश्यकता थी, किसी

अभागी घड़ी में उसे 'प्राण' कह दिया गया। तब से आज तक प्राण का पिण्ड न छूटा। योग के आचार्य्य कुछ भी कहें परन्तु सामान्यतः यही समझा जाता है कि प्राण का अर्थ साँस है और उसके लिये मरुत्, श्वास, वायु, पवन, मातरिश्वा जैसे नाम बराबर लिखे-बोले जाते हैं। एक स्थान से दूसरी जगह जाने को 'चलना' कहते हैं। हमारा चलना संकल्पपूर्वक होता है। अतः इस शब्द से संकल्पपूर्वकता की ध्वनि निकलती है। अब यदि हम बिजली का चलना, रेल का चलना आदि प्रयोग करते हैं तो साधारणतः यही भावना अव्यक्तरूप से रहती है कि इनके भीतर भी किसी का संकल्प काम कर रहा है। हम जब कोई काम करते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि पहले चित्त में संकल्प उठता है फिर पेशियों में शक्ति का संचार होता है। किसी वस्तु को ऊपर उठाने या गिरने से रोकने में, पास खींचने या दूर हटाने में वस्तु की ओर जाने या वस्तु की ओर से हटने में, दूरस्थ व्यक्ति को बुलाने में, शरीर के किसी न किसी अवयव में शक्ति दौड़ती है। जब विज्ञान ने ताप, विद्युत रसायन, प्रकाश जैसे द्रविषयों का अध्ययन किया तो उसको एक ऐसे पदार्थ का परिचय मिला जो प्रस्थान भेद से अनेक रूपों में परिणत होता रहता है और किसी न किसी रूप में प्रायः सभी भौतिक घटनाओं में विद्यमान रहता है। दुर्भाग्य से उसे 'शक्ति' का नाम दिया गया। ऐसा नाम देने का कारण तो स्पष्ट ही है, पर इस नामकरण ने अब तक विज्ञान के वातावरण को दूषित कर रक्खा है, शरीरचारी शक्ति नाड़ितन्तुओं और पेशियों के द्वारा काम करती है. शरीर के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँचने के लिये उसे कहीं भी शून्य में नहीं कूदना पड़ता। बस इसी प्रकार 'शक्ति' शब्द को सुनने से यह भावना होती है कि विश्व में भी किसी न किसी प्रकार का झीना माध्यम तो सर्वत्र फैला ही होगा। अच्छे-अच्छे विज्ञानाचार्य्यों ने ऐसे माध्यम की खोज में वर्षों सिर खपाया है और इसके काल्पनिक गुणों की गाथा गाई है। इतना ही नहीं, शक्ति के पीछे शक्त और उसका संकल्प होता है, संकल्प की पीछे चेतना होती है। बस, इस एक शब्द के प्रयोग करने से विचार के लिये एक नया

क्षेत्र मिल जाता है। शक्ति किस माध्यम में चलती है, उसका संचार अन्धा, निरुद्देश्य, आकस्मिक है या किसी चेतन व्यक्ति के संकल्प के अनुसार ? उस व्यक्ति ने ऐसा संकल्प क्यों किया ? क्या वह उसे बदल सकता है ?

पुराने अर्थों के बोझ से न दबने का एकमात्र यही उपाय है कि किसी ऐसे स्वर से काम लिया जाय जो न तो किसी कोष में मिलता हो न व्याकरण के किसी नियम के अनुसार व्युत्पन्न हुआ हो। लिखते समय भी वर्णमाला के अक्षरों का व्यवहार न करके कोई नया चिह्न निकाल लिया जाय। यदि शक्ति की जगह 'ग्युङ्' या 'प्लुबङ् या 'ब' जैसे किसी स्वर से काम लेते और उसको लिखने के लिये गणित के + —जैसे चिह्नों की भाँति कोई चिह्न बना लेते तो सुविधा होती। इन संकेतों के साथ किसी गौण अर्थ, किसी ध्वनि, का सम्मिश्रण न होता। यह कोई नई बात नहीं है। तन्त्र के ग्रन्थों में ऐसे संकेतों से बराबर काम लिया जाता है। 'काली शंकर' सुनने से अनेक भावों का उदय होता है। परन्तु इनके बीज 'क्रीं' 'गीं' में यह बात नहीं है। भावना के ऊपर उठकर स्वर पर चित्त को एकाग्र करके जप किया जा सकता है। पर ऐसे बीजों से भाषा नहीं बनती।

एक दो शब्द करोड़ों मनुष्यों की मनोवृत्ति को बदल सकते हैं। सभी भारतीय दर्शनों का यह एक मत है कि जीव अपने कर्म्म का फल भोगता है। किसी शरीर विशेष से जिन फलों का भोग करना होता है उनको 'प्रारब्ध' कहते हैं। मुसलमानों के साथ 'क़िस्मत' शब्द देश में आया। क़िस्मत में भी प्रारब्ध की भाँति अवश्यम्भोग्यता है पर वह किसी बाहरी शक्ति की इच्छा का परिणाम होती है। प्रारब्धवादी में आत्मनिर्भरता होती है। क़िस्मतवाद पराश्रय सिखलाता है, धीरे-धीरे हमारे यहाँ प्रारब्ध की जगह, कम से कम उसके साथ-साथ, किस्मत का भी व्यवहार होने लगा और भाग्य या प्रारब्ध का अर्थ क़िस्मत जैसा ही होने लगा। इसी से लोग ऐसा कहने और मानने लगे—होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै शाखा। यह वाक्य अशास्त्रीय,

धर्म-विरुद्ध है पर विद्वान लोग भी इसे या इसी के समान दूसरे वाक्यों को पढ़ते-पढ़ाते हैं। यह वस्तु-स्थित हमारी अवनतिशील मानस अवस्था का कारण और कार्य्य दोनों है। एक दूसरा शब्द लीजिये। सारे ऋग्वेद में 'ईश्वर' शब्द नहीं मिलता। यदि श्रौतवाङ्मय में कहीं आ भी गया है तो रुद्र के अर्थ में, इसलिए वेद की मीमांसा करने वाले जैमिनि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते और परम आस्तिक कपिल भी ईश्वर की सत्ता को असिद्ध कहते हैं। योगदर्शन का ईश्वर जगत् का रचयिता और पालयिता नहीं है, न्याय का ईश्वर जगत् का आरम्भक है परन्तु वह स्वभावतः जीवों के कर्म्मों के विरुद्ध नहीं जाता। इसी लिये पहले परमात्मा शब्द का व्यवहार अधिक होता था। हिन्दुओं के राजनीतिक और सांस्कृतिक पतन के साथ-साथ ईश्वर का व्यवहार बढ़ा क्योंकि मुसलमानी 'खुदा' के जोड़ में यही बैठ सकता था। शब्द के साथ अर्थ भी आया। ईश्वर का अर्थ है स्वामी, मालिक। यह शब्द भी व्यवहार में आने लगे। मैं यदि अपने घर का स्वामी हूँ तो उसमें जो चाहूँ कर सकता हूँ। इसी प्रकार यदि कोई ईश्वर है तो वह जगत् में जो चाहे कर सकता होगा। इससे यह परिभाषा बन गई कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम समर्थः' है—जो चाहे करे, न करे, उलट दे। अब जगत् ऋत और सत्य रूपी अटल नियमों के अधीन न होकर एक सर्वशक्तिमान ईश्वर के अधीन माना जाने लगा। यदि मैं स्वामी हूँ तो अपने भृत्यों को उनके काम का उचित पारिश्रमिक भी दे सकता हूँ. किसी पर विशेष रूप से प्रसन्न होकर उसे अधिक पुरस्कार भी दे सकता हूँ, यदि मेरे पास धन है तो इतना भी दे सकता हूँ कि फिर उसे नौकरी करने की आवश्यकता ही न पड़े। इसी भांति सब जगत् में एक ईश्वर है तो जीव उसका दास, सेवक, किंकर है। पिछले चार-पाँच सौ वर्षों की स्तुतियों में इन शब्दों की भरमार है। वेद में सहस्रों स्तोत्र हैं पर उनमें कहीं ऐसी दीनता, ऐसा नाक रगड़ना नहीं देखा जाता। ईश्वरवादी की बुद्धि में ऐसी दुर्बलता भर जाती है। वह अपने पाँव पर खड़ा होना भूल जाता है। ईश्वर कर्म्म का फल तो देता ही है पर जिसकी चाटुकारिता पर रीझ

जाय उसको क्षण भर में सब दुःखों के ऊपर उठा सकता है, जीवन-मुक्त बना सकता है। सत्कर्म्म अच्छी चीज़ है पर उससे बढ़कर महत्त्व इस बात का है कि हाथ जोड़कर, दीनता दिखलाकर, उस ईश्वर को प्रसन्न किया जाय। वह खड़े-खड़े बड़े से बड़े पापों को क्षमा कर सकता है। इसलिए कर्म्म-सिद्धान्त ऊपर से तो बना रहा पर उसकी जड़ कट गई। लोगों में आत्मनिर्भरता की मात्रा कम हो गई। यह धारणा बँध गई कि आजकल के लोग ज्ञान और योग के अधिकारी नहीं हैं। यह दो शब्द उदाहरण मात्र हैं। ऐसे और भी प्रयोग मिलेंगे। अँगरेज़ सरकार ने भारतीयों के लिये 'नेटिव' जैसे जुगुप्सासूचक शब्दों का निरन्तर प्रयोग करके भारतीय जनता के चित्त में बहुत दिनों तक यह धारणा दृढ़ कर दी थी कि भारतीय अंगरेजों से छोटे और नीचे होते हैं।

भाषा की शक्ति का यह दिग्दर्शन मात्र है। पानी में पत्थर फेंकने से जो लहर बनती है उसका घेरा बढ़ता ही जाता है, इसी प्रकार शब्द की ध्वनि, उसका अर्थविस्तार बढ़ता जाता है। लिखने की कला ने भाषा की शक्ति को और भी बढ़ा दिया है। कुशल प्रयोक्ता के हाथों में भाषा अमोघ शस्त्र का काम देती है। इसलिए बोलने वाले को, शब्द निर्माण करने वाले को बहुत ही सतर्क रहना चाहिये। नया शब्द शब्द-का नया प्रयोग, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में अपरिमित परिवर्तन कर सकता है। वह ऊपर उठा सकता है और नीचे गिरा सकता है; हृदय को संकोच की ओर ले जा सकता है और औदार्य्य की ओर ले जा सकता है नानात्व में एकत्व का दर्शन करा सकता है और एकत्व को नानात्व से दबा सकता है। भाषा भ्रान्ति भी उत्पन्न करती है और सत्य की झलक भी देती है इसीलिये वाणी के प्रयोक्ता का बहुत बड़ा दायित्व है। आज, जब कि हम भारत में संस्कृति के नये उषःकाल के प्रभाक्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, प्रत्येक विद्वान्, प्रत्येक विचार प्रवर्तक, प्रत्येक कवि को अपने इस दायित्व का सतत स्मरण रखना चाहिये।

मैंने भाषा-सम्बन्धी दार्शनिक समस्याओं की ओर संकेत करते हुए सत्य और मिथ्या का कोई लक्षण नहीं बतलाया था। यह प्रश्न है भी

बहुत गहन परन्तु कोई भी कवि, अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति जो साहित्य की सृष्टि करना चाहता है, इस ओर उपेक्षा भाव-नहीं रख सकता। परमात्मा को वेदों ने पुराण कवि कहा है। काव्य-रचना करते समय कवि अपने छोटे क्षेत्र में वही काम कर सकता है जिसे हिरण्यगर्भ विश्व में करता है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् का बीज पहले भी था परन्तु अपने ज्ञान रूपी तप से उसका साक्षात्कार करके हिरण्यगर्भ उसको विस्तार देता है। कवि भी यही करता है। वह भी उसी तथ्य को अभिव्यक्ति देता है जो उसको वाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के एकनिष्ठ अध्ययन रूपी तप के द्वारा अनुभूत होता है। कवि कल्पना से काम लेने का अधिकार रखता है परन्तु कल्पना निरंकुश न होनी चाहिये। उसका लक्ष्य भी सत्य ही होना चाहिये। एक बात और स्मरण रखने योग्य है। जगत् में करोड़ों वस्तुएँ हैं, करोड़ों घटनाएँ होती रहती हैं उनका यथातथ्य चित्रण कर देना, फ़ोटो खींच देना ही सत्योपासना नहीं है। इतना ही काम कवि का नहीं है, केवल बुराइयों को सामने ला देने वाला तो गाँधी जी के शब्दों में नाली साफ़ करने वाला दारोग़ा है। चित्रण हो, कल्पना की जाय, पर क्यों? इसका उत्तर महाभारत की यह पंक्ति देती है:—यल्लोकहितमत्यन्तं, तत्सत्यमिति नः श्रुतम्। यही बात सौन्दर्य के सम्बन्ध में है। कहा जाता है कि कवि सौन्दर्य की सृष्टि करता है। ठीक है, प्रकृति भी सौन्दर्य की सृष्टि करती है। परन्तु प्रकृति ऋत और सत्य की परिधि से बाहर नहीं जाती। जगत् के मूल्य में जो तत्व है उसको सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् कहा गया है। जो सत्य नहीं है वह सुन्दर नहीं है और जो शिव नहीं है वह सत्य नहीं है। जिससे तू मैं का विरोध क्षीण होता है और अभेद-भावना की पुष्टि होती है वही शिव है। लेखनी रूपी महास्त्र का प्रयोग करते समय, भाषारूपी महामन्त्र से काम लेते समय; इसका सतत ध्यान रखना चाहिए। यही विद्वान्, वक्ता और कवि का दायित्व है। इस सम्बन्ध में एक और बात अविस्मरणीय है। जान-बूझकर वितथ का प्रचार करना, लोभ, क्रोध या भय के दबाव में आकर अयथार्थ बात

कहना घोर अशिव है। भाषा का ऐसा प्रयोग पाप है और ऐसी कृति वाग्देवता के शाप से त्रिकाल में दूषित रहती है।

हम जिन शब्दों को काम में लेते हैं उनकी शक्ति परमित प्रतीत होती है परन्तु पुराकाल के आचार्यों ने इस परिमितता की जो परिधि कल्पित की थी वह आज से बहुत बड़ी थी उनका कहना था कि "एक शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके कामधुग्भवति" सम्यक् ज्ञात, शास्त्रान्वित, सुप्रयुक्त एक शब्द स्वर्ग और लोक में कामधेनु होता है। साधु प्रयोग पर उनका बहुत जोर था। साधुता का लक्षण यह बतलाया जाता है 'व्याकरण व्यंग्योऽर्थविशिष्टशब्दनिष्ठपुण्यजनकताऽवच्छेदको जाति विशेषः' शब्द साधु तब होता है जब वह शिष्ट पुरुषों की पद्धति का अनुसरण करके उस अर्थ के द्योतन के लिये प्रत्युक्त होता है जो व्याकरणसम्मत है और उससे व्यञ्जित होता आया है। ऐसा प्रयोग पुण्यजनक माना जाता है। मनमाना प्रयोग करने से साधुता नष्ट हो जाती है। इसको यों कह सकते हैं कि साहित्य में परम्परा टूट जाती हैं और इस बात का विश्वास जाता रहता है कि कोई भी कृति अपने रचयिता के भाव को कुछ काल पीछे आनेवालों तक पहुँचाने में समर्थ हो सकेगी। आजकल साधु-असाधु प्रयोग के प्रश्न का महत्त्व इसलिए अधिक बढ़ गया है कि हमारी भाषा पर इस समय बड़े जोरों के साथ विदेशी प्रभावों का आक्रमण हो रहा है। हममें से बहुतों की शिक्षा अँगरेजी मे हुई है; सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थियों के कारण हमारे मानस-जगत् में सतत उथल पुथल मची रहती है; हमारा सांस्कृतिक सम्पर्क प्राची और प्रतीची, अतीत और वर्तमान के सभी प्रान्तभूमियों से है। जीवन का साहित्य में प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य है। हमको नये भावों को व्यक्त करने के लिये नये शब्दों, नये छन्दों, नई शैलियों की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। यह विकास स्वाभाविक है क्योंकि यह बौद्धिक विकास की प्रतिच्छाया है। परन्तु इसके साथ ही सतर्क रहने की भी बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक नया विचार उपादेय नहीं होता। समझदार मनुष्य समीक्षा करके

ही नये विचारों को अपनाता है। विचार के अपनाये जाने का प्रमाण यह होता है कि उसका नयापन जाता रहता है और वह सम्यग्जीर्ण भोजन के समान अन्य विचारों और संस्कारों के साथ मिलकर एक हो जाता है। जब तक ऐसा नहीं हो पाता तब तक चित्त में अशान्ति रहती है। आज ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे जो अपने वैज्ञानिक ज्ञान को अपने साम्प्रदायिक संस्कारों से मिलाकर एक करने में असमर्थ होने के कारण दुखी रहते हैं।

विचारों की अस्तव्यस्तता भाषा में भी प्रतिबिम्बित होती है पर यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि प्रत्येक नया प्रयोग उपादेय नहीं होता। पुराने प्रयोगों, पुरानी शिष्ट शैलियों, को छोड़ देना स्वाधीनता भले ही हो परन्तु हर स्वाधीनता तो अच्छी नहीं होती। स्वाधीनता वहीं तक अच्छी होती है जहाँ तक कि वह स्वेच्छाचारिता और उच्छृङ्खलता का दूसरा नाम नहीं बन जाती। जो स्वाधीनता साहित्य—साहित्यपन को तोड़ती है वह अच्छी नहीं। भाषा में जो प्रयोग केवल विदेशी प्रयोगों के अनुकरण के लिए, केवल नयेपन के लिए किये जाते हैं वह असाधु हैं। हमारे प्रमाद से भी कई विदेशी प्रयोग भाषा में घुसकर उसको भ्रष्ट कर रहे हैं। यह विदित-अविदित भूलें भाषा की शक्ति को कुण्ठित करती हैं। हर लेखक को इस सम्बन्ध में सतर्क रहना चाहिए अन्यथा उसकी कृति हमारे वाङ्मय के साथ एकीभाव, तन्मयता प्राप्त न कर सकेगी और उस सत्य का यथार्थ अभिव्यञ्जन भी दीर्घकाल तक न कर सकेगी जिसको उद्दिष्ट करके उसकी सृष्टि हुई थी।

भाषा में शक्ति शब्दों से और विषय से आती है परन्तु शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत लेखक का अन्तःकरण है। जिस कृति को सत्य के दर्शन और लोक के मङ्गल की कामना से स्फूर्ति मिली है वह सजीव और शक्तिमान होगा; जिसकी प्रेरणा किसी अन्य प्रकार से हुई है वह अपनी निर्वीर्यता के बोझ से सदा दबा रहेगा।

शिक्षक की समस्या

शिक्षा उन विषयों में से एक है जिनकी ओर आजकल सभी लोगों का ध्यान जा रहा है। पुरुष और स्त्री बच्चे और बूढ़े, सभी को पढ़ाने का आयोजन किया जा रहा है। नये स्कूल और कालिज ही नहीं, विद्यापीठ और विश्व-विद्यालय तक खुल रहे हैं और इनके ऊपर करोड़ों रुपया व्यय हो रहा है। जिस प्रकार इससे पहले जन्म भर की पाप की कमाई एक धर्मशाला बनवा देने या कुआं खुदवा देने से निर्दोष हो जाती थी, उसी प्रकार आजकल शिक्षालयों को दान देना प्रायश्चित का सुलभ साधन है। जो लोग रुपया नहीं लगा सकते वे बुद्धियोग से ही सेवा करते हैं। अपने थोड़े-से मंत्रिकाल में मुझे शिक्षा के सभी अंगों के सम्बन्ध में सैकड़ों आयोजन मिले। इन प्रस्तावों के भेजने वालों में बहुत से ऐसे सज्जन थे जिनसे मुझको परिचय का सौभाग्य न था और जो स्वयं किसी शिक्षण-संस्था से किसी प्रकार सम्बद्ध न थे। इसे मेरा दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि मैं इनमें से अधिकतर परामर्शों से लाभ न उठा सका, पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि शिक्षा के भिन्न-भिन्न अंगों पर इतने व्यक्ति स्वतंत्र विचार कर रहे हैं। यदि अपना देश स्वाधीन हो तो यह बौद्धिक शक्ति बहुत उपयोग में लाई जा सकती है।

शिक्षा में यह व्यापक अभिरुचि उन लोगों के लिए बड़े हर्ष का बषय है जो इस काम में बराबर लगे हुए हैं। अध्यापकों को तो इससे बड़ प्रसन्नता होती है। मैं स्वयं अध्यापक रहा हूँ और हूँ, इसलिए अपनी जानकारी से ऐसा कह सकता हूँ। जितने ही नये शिक्षालय स्थापित होते हैं, जितना ही पूर्व-स्थापित शिक्षालयों का परिवर्द्धन होता है, मनोविज्ञान और अध्यापन-शास्त्र का जितना ही गहरा अध्ययन होता है, उतना ही हमारा काम सुन्दर होता है। प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो शिक्षा के लिए एक पैसा देता है और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो अशिक्षितों से निकलकर शिक्षितों की कोटि में मिलता है, हमारा सहायक है। अज्ञान से लड़ने के लिये हम प्रत्येक सिपाही का स्वागत करते हैं।

शिक्षा और साक्षरता भी उपेक्षणीय है। वह शिक्षा का प्राथमिक सोपान है, इसलिए साक्षरता प्रचार भी प्रसन्नता का ही विषय है।

परन्तु इस व्यापक सन्तोष में कुछ काली रेखाएँ भी हैं और वे रेखाएँ बहुत काली हैं। अन्य लोगों के साथ-साथ सरकारें भी शिक्षा में अभिरुचि ले रही हैं। सरकार न कहकर राज शब्द का प्रयोग किया जाता है। राज को शिक्षा की ओर ध्यान देना ही चाहिये। उसका कर्तव्य है कि वह ऐसे प्रबन्ध करे जिनसे सबको यथोचित शिक्षा मिले और शिक्षा के लिये अर्पित धन का अपव्यय न हो। छात्रों और अध्यापकों की सुविधा भी उसे देखनी चाहिये और इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिये कि सभी आवश्यक विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध रहे। राजकोष पर शिक्षा का पहला अधिकार है। पर आजकल राज इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। वह यह भी निश्चय करता है कि क्या पढ़ाया जाय, कौन पढ़े और कौन पढ़ाये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी न किसी को तो यह निश्चय करना ही होगा कि किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। यह काम समाज का, उसके दार्शनिक विद्वानों और धर्माचार्यों का है। उनको सोचना चाहिये कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या हो। जैसा लक्ष्य होगा वैसा ही समाज होना चाहिये और उस समाज के उपयुक्त ही शिक्षा होनी चाहिए। यह विचार और निश्चय मुट्ठी भर शासकों के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता, पर आज यही हो रहा है। थोड़े से प्रभावशाली व्यक्ति जो निर्णय कर लेते हैं, वह राज के नाम से सारे समाज और शिक्षा के द्वारा आने वाली पीढ़ियों के सिर लादा जाता है। इस प्रकार के निर्णय का आधार-स्तम्भ यह सिद्धान्त होता है कि राज की सत्ता व्यक्ति की सत्ता से अधिक महत्त्व रखती है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसी बात में है कि वह राज का अंग रहकर उसका हित-साधन करे।

राज से पृथक् उसका उतना ही मूल्य है जितना कि शरीर से पृथक हाथ, पाँव, सिर या किसी अन्य अवयव का। राज के हित में व्यक्तियों का हित भी निहित है पर राज के हित के सामने व्यक्ति के हित का

कोई मूल्य नहीं है। राज व्यक्ति के लिए नहीं, व्यक्ति राज के लिए है। राज का हित किस बात में है इसका निश्चय उसका उत्तमांग अर्थात् शासक वृन्द ही कर सकता है। व्यक्ति को शासकों की बात माननी ही होगी। उसका विद्रोह करना वैसा ही है जैसा किसी अवयव का शरीर के विरुद्ध विद्रोह करना। इसका तात्पर्य यह होता है कि सारी जनता को हर बात में मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में रहना पड़ता है और अपने जीवन के हर विभाग को उनके ऊपर छोड़ देना होता है। यह स्पष्ट ही है कि जहाँ राज का हित ही सबसे बड़ा लक्ष्य है वहाँ विभिन्न राजों के हित आपस में निरन्तर टकराते रहेंगे, क्योंकि प्रत्येक राज अपने हित को सबसे ऊँचा स्थान देगा। ऐसी दशा में बराबर युद्ध होंगे और प्रत्येक राज बल-संग्रह में अपनी सारी शक्ति लगाता रहेगा। दूसरे राजों को दबाने और दूसरे देशों के निवासियों का शोषण करने के सिवाय राज का कोई दूसरा हित भी नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में सबसे अच्छा नागरिक वह होगा जो बिना कुछ कहे-सुने अपना सर्वस्व राज के चरणों पर न्यौछावर करने के लिए तैयार रहे। ऐसी नागरिग मनोवृति एक विशेष प्रकार की शिक्षा से ही उत्पन्न हो सकती है। इसलिए आजकल की राज-शिक्षा को अपने हाथ में रखते हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में बचपन से ही यह भाव कूट-कूटकर भर दिया जाय कि उसका राष्ट्र और राज सवश्रेष्ठ है और पृथ्वी पर संस्कृति फैलाने का उसके ऊपर विशेष दायित्व है। ऐसे नागरिक को यह सोच-कर कि मैं इस राज का अंग हूँ, कुछ वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि किसी भक्त को भगवान् का अंश होने में। वह कभी इस बात को मान ही नहीं सकता कि उसका राज कभी भूल कर सकता है या किसी और राज का पक्ष उसकी अपेक्षा अधिक न्यायसंगत है। जो ऐसी वृत्ति उत्पन्न करने का बीड़ा ले और सत्य को तिलांजलि देकर इतिहास, विज्ञान और दर्शन का गला घोंटने को तैयार हो, वही अध्यापन के गुरु कार्य में लगने दिया जा सकता है। ऐसी शिक्षा असत्य की नींव पर खड़ी की जाती है और लूट-खसोट तथा दुरभिमान के मनोवेगों को

उद्दीप्त करती है; पर इसमें यह बड़ा गुण है कि राज को सहज ही ऐसे बकरे मिल जाते हैं जो हँसते-खेलते बलिवेदी पर चढ़ जाते हैं।

शिक्षा के सच्चे प्रेमियों के लिए यह बात चिन्ताजनक है परन्तु रोक का कोई प्रयास नहीं हो रहा है। जर्मनी जैसे फ़ासिस्ट राज तो खुलकर यह खेल खेलते ही हैं; जो राज अपने को लोकायत्त कहते हैं वे भी उसी लीक पर चल रहे हैं। एक बार शिक्षा की शक्ति को समझ लेने पर कोई सरकार इस अद्भुत शक्ति को छोड़ना नहीं चाहती। इस पाँच वर्षों में जनता की बुद्धि का बदल देने का यह अपूर्व साधन है। इसके अनुसार पाठशाला एक प्रकार का कारखाना बन जाता है जिसमें से छात्रों की बुद्धि एक ही साँचे में ढलकर निकलती है। राज की शिक्षा नीति क्या कुछ कर सकती है इसका उदाहरण हम भारत में देख सकते हैं। पठान और मुग़ल शासक अपनी प्रजा की बुद्धि से विद्रोह का भाव कई सौ वर्षों में न निकाल सके, पर वह काम अंग्रेजों ने सौ वर्षों के भीतर-भीतर कर लिया। इतिहास और साहित्य की पोथियों में एक पंक्ति इधर घटा दी, एक पंक्ति उधर बढ़ा दी; किसी के नाम के आगे कोई विशेषण जोड़ दिया; किसी घटना को दस, किसी को पाँच शब्दों मे दिखाया कि जादू चल गया। सैकड़ों हजारों भारतीयों पर यह सिक्का बैठ गया कि भारत का इतिहास अटूट दासता की गाथा है, हम अपने पाँवों पर कभी अकेले खड़े नहीं हो सके, हमारे आभ्यन्तर कलह अमिट हैं; हमारे यहाँ सच्चा राम-राज्य तो अंगरेजी शासन काल में आया है और हमारा कल्याण अंगरेजों की छत्रच्छाया में रहने में ही है।

ऐसी परिस्थिति श्रेयस्कर नहीं हो सकती। असत्य के बल पर खड़ी असत् शिक्षा कलह और अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति को कभी बन्द न होने देगी और एक दिन सभ्यता को श्मशान पहुँचा कर ही दम लेगी। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो मनुसन्तान का हित चाहता है, इस विषय में सतर्क होना चाहिये। इस सतर्कता का फल यह होगा कि मनुष्य-जीवन का सच्चा लक्ष्य और नागरिकता का साधु आदर्श स्थापित होगा और राज

के सार्वभौम अधिकार का गढ़ ढह जायगा। उसी अवस्था में शिक्षा के समुचित प्रयोग हो सकेंगे।

जिस दिन जनता शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को समझेगी उस दिन पहला काम शिक्षकों की अवस्था का सुधार होगा। आज के अध्यापक की गिरी दशा शिक्षा के पतित आदर्शों की प्रतीक है। जहाँ बहुत से कारखाने हैं वहाँ पाठशाला भी है। किसी में कीलें ढलती हैं, किसी में जूते बनते हैं। सब माल एक-सा—एक सुई या पुस्तक या लोटा दूसरे से पहचाना नहीं जा सकता। हाथ की बनी वस्तुओं में विशेषता होती है; कारखाना विशेषता को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार स्कूल से एक प्रकार की नपी-तुली बुद्धि के लड़के निकलते हैं; एकसा सार्टिफिकेट सबके पास है। स्कूल मौलिकता को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। अध्यापक चाहे वह कालिज के प्रोफेसर हों या देहाती पाठशाला के गुरूजी—इस बड़े कारखाने के मजदूर हैं। उनको ऊपर वालों की आज्ञा के अनुसार माल तैयार करना है, अर्थात् पढ़ाना है। बेकारी के दिनों में भी वेतन मिलता है, और क्या चाहिये?

जब तक यह भाव बना रहेगा तब तक अध्यापक भी बेगार करते रहेंगे। शिक्षा के आदर्शों का निश्चय करना पूरा-पूरा अध्यापकों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता परन्तु उनका भी इसमें बड़ा हाथ होना चाहिये। जिस कारीगर को काम करना है उसको यह भी कहने का अधिकार होना चाहिये कि इस मसाले से क्या तैयार हो सकता है और होना चाहिये। यह तो अजीब अन्धेर है कि शिक्षा के सम्बन्ध में अनाड़ी निर्णायक सम्मति दे और अध्यापक को बोलने का अधिकार न हो। समाज शिक्षक वर्ग के साथ बराबर अन्याय करता आया है। वेतन पुरस्कार के समय उसका स्थान सबसे पीछे आता है। मैं यह जानता हूँ कि कुछ ऐसे भाग्यशाली आध्यापक भी हैं जो पर्याप्त वेतन पारहे हैं; पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकतर ऐसे ही हैं जिनको दूसरे पेशों के बाजार-भाव के अनुसार भी पारिश्रमिक नहीं मिलता। जिनके सुपुर्द यह कार्य है कि वे भविष्यत् के नागरिकों और नेताओं

को तैयार करें, उनसे भूखे रहकर काम करने की आशा की जाती है। यह नहीं सोचा जाता कि इनके भी बाल-बच्चे हैं, उन्हें भी लड़कियों का ब्याह करना है और लड़कों को पढ़ाना है। इनको भी अच्छे खाने पहनने की इच्छा होती है, इनका भी जी मनोरन्जन चाहता होगा। जो लोग अध्यापकों को सादगी का उपदेश देते हैं और उनको प्राचीन-काल के विद्यापीठों में पढ़ाने वालों साधु-ब्राह्मणों की याद दिलाते हैं, वे स्वयं यह भूल जाते हैं कि आज वह युग नहीं है, आज के अध्यापक को भिन्न प्रकार की सभ्यता के बीच रहना है, आज उसके शिष्य उसके चरणों पर गुरु-दक्षिणा नहीं रखते, सारा काम बंधे वेतन से ही चलाना है। एक और बात लोग भूल जाते हैं। योगियों और तपस्वियों की बात न्यारी है—ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं—परन्तु जो मनुष्य घोर तामसिक नहीं होता उसमें कुछ न कुछ महत्वाकांक्षा निःसन्देह होती है। या तो वह धन चाहता है या ऊँचा पद जिसमें दूसरों पर अधिकार हो या सम्मान मिले। अपनी इस इच्छा के अनुसार उसे प्रधानतः वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण स्वभाव का कह सकते हैं। साधारणतः सभी चीज़ों की चाह होती है पर इनमें से कोई एक दूसरों से प्रबल पड़ती है। अब बेचारे अध्यापक को लीजिये। उसका वेतन बहुत कम है और अधिकार भी कुछ नहीं है। समाज उसे सम्मान तक भी देने को तैयार नहीं। क्या गाँव और क्या जनपद अध्यापक का स्थान सबसे नीचा है। क्या राज-दर्बार और क्या सभा-समिति अध्यापक की जगह पीछे ही होगी। एक तहसीलदार या थानेदार का सम्मान किसी बड़े कालिज के प्रधानाध्यापक से ऊँचा होगा एक नौसिखिया वकील जो दीवानी-फौजदारी क़ानून के सिवाय कुछ नहीं जानता, राजनीति और अर्थ-नीति, शासन और शिक्षण पर बोलने का अधिकारी है, और अनेक शास्त्रों में निष्णात अध्यापक के लिए चुप रहना ही उचित समझा जाता है। इस आक्षेप के उत्तर में यह कहना व्यर्थ है कि जो व्यक्ति योग्य होगा वह अपने व्यक्तित्व के बल पर सम्मान प्राप्त कर ही लेगा। यह बात ठीक पर सबके लिए ठीक नहीं है। यहाँ विशेष व्यक्तियों की

क्षमता का विचार नहीं है; प्रश्न तो समाज के सामान्य दृष्टिकोण का है। इसीलिए यह विचार भी अप्रासंगिक है कि अध्यापकों को कहाँ तक और किस प्रकार राजनीतिक वादविवाद में भाग लेना चाहिये।

समाज को अपनी इस नीति का फल मिल रहा है परन्तु बहुधा ऐसा ही होता है कि जब लोग अपने लिए कोई और पेशा नहीं देखते तब अध्यापक बनने की सोचते हैं। जिस व्यवसाय में किसी भी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अवसर नहीं उसकी ओर पहला ध्यान कम ही लोगों का जाता है। समाज को यह आशा न करनी चाहिए कि जो मनुष्य विवश होकर इस काम में आया है वह पूरा उत्साह दिखला सकेगा। वह तो अपनी अतृप्त इच्छाओं की आग में जलता रहेगा। उसे बराबर यही ख्याल होता रहेगा कि मैं यहाँ दुर्भाग्यवश आ फँसा हूँ। मुझसे कम योग्यता वाले अधिकार, धन और सम्मान का उपभोग कर रहे हैं और मैं एक कोने में पड़ गया हूँ। यदि समाज चाहता है कि उसके बच्चों को उच्च कोटि की शिक्षा मिले और उसके अध्यापक अपने काम में अपना पूरा मनोयोग दें तो उसे इस पेशे को अन्य पेशों के बराबर आकर्षक बनाना होगा। अध्यापकों को पर्याप्त भृति देनी होगी और सम्मान बढ़ाना होगा। ब्राह्मण चातुर्वर्ण्य में शिरःस्थानीय था। अध्यापक का भी समाज में वही स्थान होना चाहिये। जिसके साथ शूद्र जैसा व्यवहार किया जाय। उससे ब्राह्मण-जैसे आचरण की आशा नहीं की जा सकती।

पर जहाँ समाज दोषी है वहाँ हम अध्यापक भी कम अपराधी नहीं हैं। जो इस पेशे में आये उसे यह समझ लेना चाहिये कि वह व्यास और वशिष्ठ की गद्दी पर बैठने जा रहा है। वेतन लेना पाप नहीं है. पुरोहित भी दक्षिणा लेता है; परन्तु अध्यापक को केवल जीविका का साधन समझना अधर्म है। कोमल बुद्धि बालक बालिकाओं को मनुष्य बनाने का अवसर सबको नहीं मिलता। हमारे छात्रों में से ही भविष्यत् के नेता, योद्धा, राजपुरुष विज्ञानवेत्ता और दार्शनिक निकलेंगे। यह गौरव की बात है। हम अपने वेतनादि से सन्तुष्ट हों या न हों परंतु

हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि अपने सन्तोष का बदला छात्रों से लें। उनको तो हमारी पूर्ण शक्ति, पूरा बुद्धि योग, पूरा नैतिक सहारा मिलना ही चाहिये। विद्यादान करते समय तो हमारा वह भाव होना चाहिये जो पूजा करते समय होता है।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमने अपने कर्तव्य को नहीं पहचाना। समाज ने, या समाज के नाम पर उसके शासकों ने, हमको मजदूर समझा और हम भी चुपके से विवेक-शून्य मजदूर बन गये। हमसे जो कहा गया हमने वही कर दिया यह न सोचा कि काम करणीय भी है या नहीं। अपने राजनैतिक विश्वास के लिये हजारों आदमी जेल जाते हैं, कितने सम्पत्ति की हानि करते हैं, बहुतों को प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। अपने धर्म या धर्मग्रन्थ या मन्दिर-मस्जिद के नाम पर कितने ही पुरोहितों, पुजारियों और पादरियों ने यातनायें सही हैं और प्राण दिये हैं पर यह सुनने में स्यात ही कभी आता है कि अमुक अध्यापक ने इसलिए अपना काम छोड़ दिया कि वह अधिकारियों की आज्ञानुसार पढ़ाने को तैयार न था। यदि वैद्यों को आज्ञा दी जाय कि तुम अपने रोगियों को विष दे दो तो अधिकतर वैद्य इस आज्ञा को न मानेंगे, पर ऐसे कितने अध्यापक हैं जिन्होंने अपने छात्रों की बुद्धि में असत्य ज्ञान का विष संचार करना अस्वीकार किया है? जो किसी सिद्धान्त के लिये कष्ट सहने को तैयार नहीं, जिसको कोई आदर्श इतना प्यारा नहीं कि वह अपने को उसके लिये बलिदान करने को बाध्य समझे, वह कभी लोकसम्मान का भाजन नहीं बन सकता। जब हम लोग समाज को दोष देते हैं तो इस बात पर भी विचार कर लिया करें। कभी हम यह भी सोचते हैं कि इस समय जो साम्प्रदायिक वैमनस्य सारे देश में फैला है, उसके लिये हमारा और हमारे झूठे इतिहास पढ़ाने का कहाँ तक दायित्व है?

अध्यापन को केवल व्यवसाय समझ लेने का परिणाम यह हुआ कि हम अपने को समाज के भले-बुरे के लिये दायी नहीं समझते। यह

भूल जाते हैं कि हम भी इस समाज के अंग हैं और इस पर हमारा भी उतना ही स्वत्व है जितना किसी बड़े से बड़े राजनैतिक नेता का। अनुदार दायित्व के भाव ने इतना घर कर लिया है कि हम उस गुण को खो बैठे हैं जिसकी अध्यापक को सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह गुण सहानुभूति है। हमको अपने विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति नहीं रही। आज का युवक—और यही बात युवतियों के लिये भी सच है—असाधारण परिस्थिति में है। प्राचीन नष्ट हो रहा है, नवीन अभी आया नहीं। राजनीतिक समस्याओं को बड़े लोग चाहे संभाल भी लें, यद्यपि इसमें भी सन्देह है, परन्तु बहुत से ऐसे आर्थिक और सामाजिक प्रश्न हैं जिनका उसके जीवन से अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। सब कुछ अनिश्चित है। उसे जीविका के लिये क्या करना होगा? विवाह करें या न करें? कब करें? किससे करें? कैसे करें? घर वालों से रहन-सहन, खान-पान के विचार नहीं मिलते, उनके साथ रहें या अलग गृहस्थी बसायें? पुरानी बहुत-सी रूढ़ियाँ निरर्थक प्रतीत होती हैं, उनको माने या न माने? न मानने में घर वालों को जो कष्ट होता है वह देना ठीक है या नहीं? यह और इस प्रकार के दूसरे हजारों प्रश्न उसे पागल बनाये रहते हैं। परन्तु हमको उनका पता नहीं है। उसकी आध्यात्मिक नाड़ी पर हमारा हाथ आता भी नहीं। लड़के पढ़ने आते हैं, पर हम और वह प्रथक्-प्रथक जगतों में रहते हैं। वह जानते हैं कि उनको हमसे कोई परामर्श, कोई सहायता, कोई नैतिक संबल नहीं मिल सकता। हम उनकी मानस अवस्था को समझ ही नहीं पाते क्योंकि हमने अपने को उन प्राणमयी तरंगों से प्रभावित ही नहीं होने दिया जो आज लाखों मनुष्यों के जीवन को उद्विग्न कर रहीं हैं। इस परिवर्तन काल की विकट समस्याओं को सुलझाने में उन धार्मिक और नैतिक विश्वासों से भी काम नहीं चलता जो किसी समय लोगों को सहारा देते थे; आज वे भी तो शङ्का के क्षेत्र के भीतर आ गये हैं। स्कूल-कालिजों में जो झगड़े आये दिन होते रहते हैं उनका एक बड़ा कारण यह भी है। आज का विद्यार्थी प्रकृत्या दुष्ट नहीं है पर उसकी बुद्धि को अनेक प्रकार की चिन्ताओं ने क्षुब्ध कर

रक्खा है। इन चिन्ताओं का उठाना उसके लिये गौरव की बात है, पर खेद यह है कि न हम उसकी कठिनाइयों को समझ सकते हैं, न उसको कोई सहायता दे सकते हैं। वह समवेदना का भिखारी है, और हम उसे विद्रोही समझकर दण्ड देने चलते हैं इसी से संघर्ष होता है। अनुशासन तो रखना ही होगा पर वह दण्ड बहुत खलता है। जिसके लिए अपना हृदय अपराध स्वीकार नहीं करता।

मैंने ऊपर कहा है कि समाज को यह अधिकार नहीं है कि हमको पुरस्कार, अधिकार और सत्कार की दृष्टि से शूद्र समझे और फिर भी हमसे ब्राह्मणवत् आचरण की आशा रक्खे। यह ठीक है। परन्तु समाज के कुकृत्य को समझते हुए भी हमको तो अपना कर्तव्य-पालन करना ही है। हमको तो ब्राह्मण का ही आचरण करना है, तपस्वी जीवन बिताना है और विद्या-दान को अपना धर्म समझना है—जो ऐसा नहीं कर सकता वह सरस्वती के मन्दिर का पुजारी नहीं हो सकता। यदि हम अपने को पहचानें तो अपने त्याग और तप से फिर समाज का नेतृत्व प्राप्त कर सकते हैं। यह नेतृत्व हमारे स्वार्थ का साधन न होगा। वरन् हमको सेवा करने का उपयुक्त अवसर देगा। इसके साथ ही अपने ब्राह्मण वर्ग के नेतृत्व में चलने से समाज का भी कल्याण होगा।

—श्रीसम्पूर्णानन्द

गुसाईं तुलसीदास

मैंने कहीं किसी ऐतिहासिक का कहना सुना था कि १६ वीं शदी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष में तीन दिव्यविभूति-युक्त महापुरुष विद्यमान थे; पर भारत तथा विश्व के लिये यह खेद की बात थी कि उन तीनों का संयोग-साक्षात्कार और मेल-मिलाप नहीं हो सका। उनमें से दो—महामति सम्राट अकबर और स्वाधीनता के वर पुत्र वीरश्रेष्ठ

चित्तौड़-राज प्रतापसिंह—तो आपस में प्राणान्त कर संग्राम में लगे हुए थे। तीसरे महापुरुष थे गोस्वामी तुलसीदास, जिनकी ख्याति अकबर के दरबार तक न पहुँचने का कारण यही था कि वे अपने आश्रम के एकान्त में छिपे रहते थे, अपने साधन-भजन में आत्म-समाहित थे और कविता-रचना द्वारा अपने देवता की अर्चना करते थे। अकबर की बुद्धि और कर्मशक्ति, प्रताप की शूरता और देश-प्रीति तथा तुलसी की भक्ति और कल्पना, प्रजा की आध्यात्मिक मुक्ति के लिए व्याकुलता—इन गुणों का संयोग यदि होता, तो भारत के लिए क्या न होता! पर विधाता का अभिप्राय मनुष्य के ज्ञान और पहुँच के बाहर है।

अकबर ने भारत की विश्व-मैत्री की प्राचीन वाणी को अपने ढंग से 'सुल्-इ-कुल्ल' के फ़ारसी अनुवाद के रूप में, भारत के जीवन में कार्यान्वित करने की चेष्टा की थी; पर उनको इस साधना में सिद्धि नहीं मिली। प्रताप ने प्राणपण युद्ध चलाया था। इससे प्रताप की इज्ज़त बची और राजपूतों का मुँह काला नहीं हुआ; पर भारत के हिन्दू स्वातन्त्र्य की रक्षा नहीं हो सकी। प्रताप की मृत्यु के बाद सौ वर्षों के बीच छत्रपति शिवाजी ने हिन्दू-जाति की रक्षा का बीड़ा उठाया और महाराष्ट्र में 'हिन्दू-पद-पादशाही' की स्थापना की। पर एक सौ बरसों के अन्दर ही सन् १७६१ में पानीपत के मैदान में शिवाजी तथा पेशवा लोगों की कीर्ति मिट गई। अकबर की भाव-धारा को उनके प्रपौत्र राजकुमार दाराशिकोह ने पुनर्जाग्रत करने का प्रयास किया; पर औरंगजेब के कट्टरपन की लू ने आकर उस निर्मल धार को सुखा दिया। प्रताप की शूरता की कहानी आज तक जीती है। अकबर की उदारता और न्याय-निष्ठा की स्मृति आज तक भारतीय प्रजा के हृदय से दूर नहीं हुई है। पर इन दोनों की विभूति हमारे लिए आज प्रत्यक्ष नहीं है—ऐतिहासिक अतीत की गुफ़ा से अध्ययन और अनुशीलन द्वारा उन्हें आधुनिक जीवन में बाहर लाना पड़ता है, दैनिक जीवन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। पर तुलसीदास की बात दूसरी है। अपनी

भक्ति के साथ-ही-साथ समाज की रक्षा के लिए उनका अपरिसीम आग्रह था और इसी भक्ति और समाज-रक्षा की चेष्टा के फल-स्वरूप 'रामचरित मानस' महाग्रन्थ रचित हुआ था, जिसकी पूत धारा ने आज तक उत्तर-भारत की हिन्दू-जनता के चित्त को सरस और शक्तिमान कर रखा है और जो उसके चरित्र को भी सामाजिक सद्गुणों के आदर्श की ज्योति से सदा के लिए आलोकित कर रही है। अकबर का गौरव एक ऐश्वर्यमय युग की मधुर स्मृति-सा रह गया है। अकबर जनता के लिये केवल अतीत की कहानी के एक न्यायी बादशाह बन गये हैं। प्रताप की देशभक्ति विद्यालयों में बच्चों को सिखाने की वस्तु बन गई है। पर तुलसी पीढ़ियों से हमारे हृदय, सामाजिक बोध-विचार और हमारी आध्यात्मिक अनुभूति को अपने अमर ग्रन्थों द्वारा उद्योतित कर गये हैं। उत्तर-भारत के हिन्दुओं के मन में अपनी संस्कृति और अपने हिन्दूपन का यदि कुछ भी अभिमान हो, तो उसके लिये उन्हें गोस्वामी तुलसीदास का आभारी होना चाहिये। वैदिक युग के पूर्व काल से युग-धर्म के अनुसार परिवर्त्तित होते हुए जो बहुमुख और बहुरूप हिन्दू-धर्म 'सनातन धर्म' के नाम से आज तक चला आया है, उसकी गति को अपने स्वाभाविक विकास की अनुयायिनी रखने के लिये जिन मनीषियों ने प्रयत्न किया था, गोस्वामी तुलसीदास उनके प्रमुखों में से एक थे। प्रवैदिक या प्राग्वैदिक (अर्थात् वेद-पूर्व) धर्म, जो भारत में आर्यों के आने के पहले अनार्य द्राविड़, कोल आदि जातियों में प्रचलित था और जिसे हम 'योगमार्गी आगमात्मक धर्म' कह सकते हैं, भारत में आये और नये बसे हुए आर्यों के वैदिक या निगमात्मक धर्म में सम्मिलित हो गया। आर्य और अनार्य धर्मों के इस गंगा-यमुना संगम से जो मिलित धारा निकली, वही प्राचीन हिन्दू धर्म है। इसकी नई अभिव्यक्ति 'पौराणिक' हिन्दू-धर्म के रूप में हुई और यज्ञ, योग, पूजा आदि में उनका आनुष्ठानिक प्रकाश हुआ। इस प्राचीन हिन्दू-धर्म में मस्तिष्क तथा हृदय-ज्ञान और भक्ति—दोनों का अपूर्व सामंजस्य किया गया। आभ्यान्तर दृष्टि या रहस्य-वाद और

पूजादिक बाह्य लोकाचार का भी उसमें समन्वय हुआ। व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि, एक और बहु आदि में जो भाव-विषयक विरोध था, समाज की प्रजा रक्षक विधियों को यथावश्यक मर्यादा देते हुए भी उसे दूर करने में इन नवीन निगमागमात्मक हिन्दू-धर्म ने अपूर्व समीक्षा और नीति दिखाई। ईसा के पूर्व के एक हजार वर्षों के बीच जब वेदोत्तर पौराणिक हिन्दू-धर्म की नींव डाली गई, तब उसके सामाजिक और आनुष्ठानिक सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं के विपक्ष में कई नये आन्दोलन उठ खड़े हुए। आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों या विचारों में इन नये दृष्टिकोणों से हिन्दू या ब्राह्मण्य दृष्टिकोण की जो कुछ कम या वेशी विभिन्नता थी, वह ऐसी कुछ लक्षणीय बात न थी; पर सामाजिक सिद्धान्तों और विधि-नियमों में, सिर्फ संन्यास या वैराग्य को संसार में सभी के लिए एकमात्र आदर्श मानकर, बौद्ध-भिक्षुओं ने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि चतुराश्रम को मानने वाले ब्राह्मण्य समाजादर्श पर सख्त हमला किया था। प्रजा-रक्षा के लिये, आयात-दृष्टि से साम्य के विरोधी लगते हुए भी वर्णाश्रम-धर्ममय ब्राह्मण्य समाजादर्श केवल सन्यासादर्श बौद्धधर्म से अधिकतर उपयोगी था, यह सभी को मानना पड़ेगा। अस्तु वेद तथा ब्राह्मण्य के विरोधी बौद्ध-धर्म ने कई सौ वर्षों तक हिन्दू-धर्म या सनातन-धर्म के विपक्ष में काम किया। इससे समाज और संसार में कुछ अनाचार और विशृङ्खल-भाव आगये। पर सनातन-धर्म धीरे-धीरे पुनर्जाग्रत हुआ। इधर गीता-सहित महाभारत, रामायण और पुराणों का संकलन और बहुल प्रकाशन हुआ, जिससे वेदों से अपना सिलसिला बनाये रखते हुए पौराणिक मतानुसारी नवीन ब्राह्मण्य-धर्म या नवीन हिन्दू-धर्म फिर नई शक्ति के साथ प्रतिष्ठित हुआ। उधर सुङ्ग, काण्व और गुप्त वंश के राजाओं की पृष्ठपोषकता प्राप्त कर नवीन हिन्दू-धर्म राष्ट्र का एक मात्र प्रधान धर्म बना। भास, कालिदास, बाण भट्ट, भवभूति, आदि महा-कवियों ने इस पुनर्जाग्रत हिन्दू-धर्म के आदर्शों को अपने अमर काव्यों और नाटकों में प्रकटित किया। अनुभवी ऐतिहासिकों को यह स्वीकार

करना पड़ेगा कि बौद्ध सामाजिक तथा अध्यात्मिक विप्लव से भारतीय प्रजा की रक्षा करने के महत् कर्म में संस्कृत महाभारत और रामायण ने पुराणों और कालिदास-जैसे कवियों के कवित्व ने कितनी बड़ी सहायता की थी। इस धर्म-संघात में बौद्ध-धर्म के कुछ महत्त्वपूर्ण मतवाद ब्राह्मण्य धर्म द्वारा गृहीत हुए, जैसे—अहिंसावाद। इससे आध्यात्मिक विचार की दृष्टि से ब्राह्मण्य का महत्त्व और भी बढ़ गया।

महाभारत, रामायण, पुराण आदि ग्रन्थों के सहारे, कालिदास, बाण भट्ट, भवभूति आदि कवियों की वाणी से और कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य माधवाचार्य, रामानुजाचार्य और प्रमुख आचार्यों के शास्त्र-विचारों से मुसलमानों—तुक, । और ईरानियों—द्वारा उत्तर-भारत पर चढ़ाई और विजय करने के कुछ पहले ह सनातन हिन्दू-धर्म अपनी नवतम मूर्ति में सुस्थापित हो गया था। तुर्क, ईरानी और पठान आए और उत्तर-भारत के राजा बन बैठे। उनके साथ-ही-साथ इस्लाम भी अपने दो रूपों में प्रकट हुआ—एक तो इसका शरीयती रूप, जिसे मुसलमान-राजशक्ति और पशुबल—ग़ाज़ी और बुतशिकन्—नियोजित हुआ और दूसरा इस्लाम का सूफ़ियाना रूप, जिसके प्रचार में लड़ाकू सिपाही या बादशाह का स्थान नहीं था। हिन्दू-रैयत के धर्म के विषय में असहिष्णुता, विरोध और उसके सत्तानाश करने की राह को छोड़ मुसलमान सूफ़ी साधुओं ने सहानुभूति और समझ से काम लिया। भारत में इस्लाम का प्रचार इस्लाम के इस दूसरे रूप के सहारे ही हुआ था। असहिष्णु, आक्रमणशील, शरीयती या क़ुरानी इस्लाम ने जब अपनी दैहिक शक्ति के साथ हिन्दू-धर्म पर चढ़ाई की, तब उसके परिणाम-स्वरूप हिन्दू-जाति का क्षात्र वीर्य जागरित हुआ। मुसलमान-राजत्व-काल में राजपूत राजा, 'गाली जमीदार, मराठे जागीरदार, सिक्ख गुरुओं के चेले, विजयनगर के तेलुगू और कन्नड़ नायक, मध्य भारत के गोंड सरदार आदि 'हिन्दुओं की चोटी, बेटी, रोटी' की रक्षा करने के लिये खड़े हुए। आखिर पशुबल को हारना पड़ा। बलात्कार से बहुत कम लोग इस्लाम में शामिल किये जा सके; पर शान्ति की

राह के सूफ़ी फ़क़ीरों और दरवेशों ने कहीं-कहीं भोले-भाले, अशिक्षित, निम्न श्रेणी के हिन्दुओं को इस्लाम की ओर खींच लिया। इन सूफ़ियों में हर तरह के लोग होते थे। उनमें कुछ तो सचमुच पहुँचे हुए साधक थे, जो पार्थिव कामों में निस्पृह थे और अपने साधन-गायन, पाठ-जप में मस्त रहते थे। उनके साथ वार्तालाप करते हुए कितने ही अनुभवी हिन्दू विद्वानों या धार्मिकों के भी मनपर सूफ़-मार्ग का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता था—चाहे अनजान में, चाहे सज्ञान भाव में। फिर उनमें मतलबबाज़ लोगों की भी कमी न थी, जिनका उद्देश्य था किसी प्रकार हिन्दुओं को मुसलमान बनाना। अस्तु, तुर्क और पठान-राज-काल में हिन्दुओं को एक बड़े भारी धार्मिक संकट का सामना करना पड़ा। बाहर से हिन्दू-जीवन पर मुसलमान-राजशक्ति का निर्मम आक्रमण हुआ और भीतर से सूफ़ियाने-इस्लाम के सहारे हिन्दू-धर्म के शत्रुओं ने अपनी ग़ैबी चाल से हिन्दू-धर्म और समाज का सत्तानाश करने की अतन्द्र चेष्टा की। देश में हिन्दू-राजशक्ति का अभाव, संस्कृत विद्या की कमी के साथ-ही-साथ जातीय संस्कृति से हिन्दू-प्रजा की विच्युति, अध्यात्मिक तथा राजनीतिक पतन के युग में समाज-नेता ब्राह्मण का भी अपने धर्म भाव से भ्रष्ट होना और इससे जनता के मन में उनके प्रति विरोध-भाव इनके अतिरिक्त सूफ़ी-साधना की नई आशिकाना रीति की ओर अशिक्षित और प्राचीन विद्या से विच्युत लोगों का आकर्षण—इन सब कारणों से हिन्दू-समाज मुसलमान-युग के पहले के कई सौ वर्ष तक पतनावस्था में गिरा रहा।

इस युग के लिए उपयोगी कुछ नए धर्म-मार्ग भी दिखलाई दिये। तसव्वुफ़ या सूफ़ी-अनुभूति और दर्शन भारत के लिये एक नई वस्तु थी। हमारे वेदान्त से उनका कुछ मेल-जोल था। दूसरे, उनकी दृष्टि इन्सानियत की थी, इस्लाम की कट्टर दृष्टि नहीं। फिर सूफ़ी-दर्शन और साधन-मार्ग ज़्यादातर व्यक्तियों को ही लेकर थे, समाज से उनका संयोग उतना नहीं था। उधर शरीयती इस्लाम में व्यक्ति की स्वाधीनता नहीं थी। वह समाज-केन्द्र था। हिन्दू-समाज की शक्ति कम होती जाती

थी, इसलिए बहुत से लोग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर झुके। व्यक्ति-निष्ठ बौद्ध-मार्ग भारत में मिट चुका था, इसलिए इस समय लोगों को व्यक्तिनिष्ठ और शृङ्खलित समाज की परवा न करने वाला सूफ़ी-धर्म ही दिखाई पड़ा। वह कट्टरपन और धर्म के नाम पर अत्याचार से मुक्त था और साथ ही हमारे परिचित वेदान्त के मत से उसका बहुत-कुछ सादृश्य भी था। विभिन्न सम्प्रदायों के भारतीय सन्यास या वैराग्य के साथ सूफ़ी ढङ्ग के ईश्वर-प्रेम को मिलाकर एक नए ढंग का साधन-मार्ग उत्तर भारत में 'सन्त'-मार्ग के नाम से चल पड़ा। वैष्णव गोपी-प्रेम एवं वृन्दावन-लीला से सूफ़ी मतानुसारी भक्त-भगवान के आशिक-माशूक-भाव के साथ कुछ सादृश्य होने के कारण ऐसा अनुमान होता है कि राधाकृष्ण के प्रतीक सहायता से अध्यात्मिक साधन करने वाले प्रेम-भक्त वैष्णव साधकों द्वारा ये नए भाव उत्तर-भारत के हिन्दू-संसार में फैल गये। सच्चे अनुभवी भक्त के लिये अध्यात्मिक साधनों का समन्वय कुछ हानिकर न था, वरन् इससे भारतीय आध्यात्मिक अनुभूति ने एक प्रकार की पूर्णता प्राप्त की। कबीर, नानक, दादू-जैसे साधकों की वाणी से यह समन्वय कैसे सार्थक और रसमय हुआ, इसका प्रमाण मिलता है। भारतीय वैदान्तिक 'सोऽहंवाद' और भक्ति का दास्य तथा मधुर भाव ईरान की श्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति के रंग में रंग गये। एक अनोखी अध्यात्यिक अनुभूति कबीर और उनके अनुगामियों में प्रकट हुई। यह वस्तु मुसलमान-युग की भारतीय साधना की एक गौरवमय वस्तु है।

पर इसके साथ ही एक ऐसा दृष्टिकोण भी प्रतिभास हुआ, जो सर्वथा अनुमोदन के योग्य न था। यह था इस नये मार्ग का प्रति-सामाजिक रूप। समाज की विधियों को मानने की ज़रूरत नहीं, प्राचीन विद्या और मानसिक संस्कृति की कुछ भी सार्थकता नहीं, केवल बैठे-बैठे अपने साधन में मस्त रहो, सन्त-मार्ग की ऐसी शिक्षा समाज के लिये हानिकारक भी थी—विशेषकर ऐसी अवस्था में, जब समाज के लिये भयंकर संकट आया था और जब चाहिए था व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को

छोड़कर ऐक्य (Unity) और संहति (Discipline) द्वारा समाज को सख़्त और आघातसह बनाने की कोशिश करना । हिन्दू-समाज से धर्मरक्षक नेता और राजा विध्वस्त हो गये थे । विद्यारक्षक ब्राह्मण स्वार्थत्याग और कष्ट के साथ किसी प्रकार पितृ-पुरुषों से प्राप्त रिक्थ या जायदाय वेदादि संस्कृत-विद्या की रक्षा करते थे; धार्मिक अनुष्ठान, पूजा-पाठ, श्राद्धादि द्वारा प्राचीन सामाजिक संस्कृति को जीवित रखते थे; तीर्थ-यात्रा सारे देश में हिन्दूत्व के एके को प्रजा के चित्त में संजीवित रखते थे। ऐसी हालत में केवल वैयक्तिक सहज प्रेम-साधना की अध्यात्मिक वाणी सुनकर समाज-संहित और जाति-रक्षा की तरफ़ से जनता को खींच लेना, समाज और जाति-प्रेम के लिये, देश के श्रेष्ठ आध्यात्मिक तथा समाजिक आदर्शों की रक्षा करने के लिये जिनमें आकूति या आकांक्षा थी, उनको रोचक नहीं हो सकता था। ब्राह्मण की विद्या, ब्राह्मण की संस्कृति, ब्राह्मण के पूजा-पाठ और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों को—जिस समय कि सम्पूर्ण (Totalitarian) भाव से ब्राह्मण या हिन्दू-संस्कृति पर आक्रमण होता था—उपहास करके उड़ा देना उस वक़्त पाँचवें दस्ते के ही काम के सदृश्य था। धन्य हैं तुलसीदास जैसे कुछ समाज-संरक्षक, दिव्यदृष्टि-युक्त, ऋषिकल्प विचार-नायक, जिन्होंने इस विपत्ति के स्वरूप को पहचाना और उससे हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-प्रजा को बचाने के लिये अपनी लेखनी को धारण किया। मध्य-युग के हिन्दू-इतिहास में तुलसीदास का महत्त्व यही था कि उन्हों-ने समग्र हिन्दू-संस्कृति को बचाने में अपरिसीम सहायता दी। और हमारे विचार में तुलसीदास से यह सहायता आज भी हम हिन्दुओं को मिल सकती है।

तुलसीदास ईश्वर-प्रेमी थे और साथ-ही-साथ मानव-प्रेमी । उनकी ईश्वर-सेवा या ईश्वर-भक्ति का एक बाह्य प्रकाश मानव की सेवा में हुआ था । उनके ग्रन्थों ने—विशेषकर 'रामचरितमानस' ने—कितना काम किया है । श्रुति-स्मृति और पुराण-अनुसार धर्म-पंथ का प्रचार उन्होंने किया था; श्रुति याने वेद, स्मृति और पुराण आदि के

नाम लेने का अभिप्राय यही था कि हम हिन्दू लोग अपने महामहिम पूर्वजों को न भूलें, जिनमें वेद, स्मृति, पुराण आदि महाग्रन्थ और उन ग्रन्थों का आश्रय लेकर एक महती संस्कृति उपजी थी। यह एक प्रकार के इतिहास-विषयक बोध (Historic consciousness) और इतिहास-सम्भूत आदर्श (Historic Idealism) के आधार पर आध्यात्मिक साधना तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये तुलसीदास ने बड़ी भारी लोकसेवा की। इस काम का फल यह हुआ कि जहाँ-जहाँ तुलसीदास का प्रभाव पहुँचा, जहाँ-जहाँ उनकी पुस्तकों के—ख़ासकर उनके 'रामचरितमानस' के—पठन-पाठन हुए, वहाँ वहाँ हिन्दू-जाति में अपने धर्म कौर अपनी संस्कृति, अपने अतीत और भविष्य के लिए अभिमान उत्पन्न हुआ, वर्तमान में काम करने के लिये हिम्मत आई और मन में जोश पैदा हुआ। तुलसीदास ने श्रीरामचन्द्र के चरित्र का आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित किया। चरित्र-गठन में ऐसे आदर्श की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ कहना फ़जूल होगा। यह तो स्वतः प्रत्यक्ष है। श्रीरामचन्द्र का आदर्श हमारे सामने जो विद्यमान है, यह हमारे लिए अहोभाग्य है। हमारी परिवारिक पवित्रता तथा सुख-शान्ति इस आदर्श के ही कारण अब तक बची हुई हैं। इसने हमें सत्य की ओर दृढ़ किया और कायरपन छोड़ सचमुच पुरुष बनने में पूरी मदद दी है। हिन्दू-संसार में अब जो-कुछ पौरुष या वीर्यवत्ता (Robustness) है, वह तुलसीदास और उनके सरीखे रामसेवक भक्तों की कृपा से आई है। समग्र उत्तर-भारत में—अर्थात् पञ्जाब से लेकर बिहार तक और हिमालय से लेकर विंध्य तक—जहाँ-जहाँ 'रामचरितमानस' पढ़ा और सुना जाता है, तुलसी-प्रचारित, श्रुति-अनुगामिनी रामभक्ति के साथ-ही-साथ कर्मी और उद्योगी, उत्साहशील और आत्मसम्मानयुक्त हिन्दुत्व क़ायम हो गया।

महाकवि भूषण ने छत्रपति शिवाजी के सम्बन्ध में कहा था—'शिवाजी न होते तो सुन्नति होती सबकी'। यह प्रशस्ति-वचन गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में भी, प्रयोज्य है। यदि उस समय तुलसी

हिन्दुस्तान में न होते. तो हिन्दुओं की कायिक न सही पर मानसिक और आध्यात्मिक सुन्नत तो ज़रूर ही हो जाती। गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म और साहित्य द्वारा लोगों की आत्मिक शुद्धि की। आत्मिक शुद्धि के बिना भौतिक उद्योग या उद्यम कभी नहीं हो सकता। मध्य युग के प्रत्यक्ष और परोक्ष मुसलमान-आक्रमण से हिन्दू-जाति का निस्तार करने, आत्म-मर्यादा. प्राचीन संस्कृति पर आस्था, संहति-शक्ति प्रभृति समाज-शक्ति को बढ़ाने वाले सद्‌गुणों पर जाति की आत्मा को पुनः प्रतिष्ठित करने और सच्ची ईश्वर-प्रीति के साथ मानव-सेवा सिखाने के लिये तुलसी ने हिन्दू-जीवन में प्राचीन भारतीय ज्ञान और कर्म का पुनरवतरण किया। इससे कहा जा सकता है कि सचमुच वाल्मीकि अर्थात् प्राचीन भारत का ज्ञान, भक्ति और काव्य-शक्ति तुलसी में अर्थात् मुसलमान-युग के हमारे श्रेष्ठ धर्म-नेता में अवतरित हुई थी।

तुलसीदास के ग्रन्थों द्वारा हमारा और एक महान् उपकार हुआ है। यह है भाषा के सहारे हिन्दुत्व और हिन्दू-संस्कृति का संरक्षण। तुलसी की कवित्व-शक्ति का विचार-विश्लेषण करने की चेष्टा मैं नहीं करूँगा। ऐसा करना मेरे लिये अनधिकार चेष्टा ही होगी। पर भावों के महत्त्व के साथ-ही-साथ उनकी भाषा का माधुर्य हमें आनन्द-रस से भर देता है। उनकी अवधी और व्रजभाषा की शब्दावली की झंकार से हमारा चित्त प्रीति-रस-सिक्त हो जाता है। देव-भाषा और लोक-भाषा दोनों के ताने-बाने से क्या अपूर्व धूपछाँह वस्त्र उन्होंने बनाया! इस भाषा के संस्कृत शब्द कैसे सुन्दर, सरस और सहज भाव से आ जाते हैं, इसमें कुछ भी कठिनाई, कुछ भी पंडिताई, नहीं दीख पड़ती। प्राकृतोत्तर युग में आधुनिक आर्य-भाषाओं में से अवधी को तुलसीदास ने जो मर्यादा दी थी, उतनी ऊँची मर्यादा बहुत कम ही भाषाओं को मिली। तुलसीदास की सी ओजस्विनी और मधुवर्षिणी भाषा भारत में और कहाँ मिलेगी? मानो इस भाषा द्वारा मानव-चित्त के सबसे उच्च भावों और सुकुमार वृत्तियों का उद्‌घाटन हो गया। इसकी मिठास कानों के भीतर प्रवेश कर हमारे प्राण को विह्वल कर देती है। इसी ने अरबी-

फ़ारसी के आक्रमण से हमें बचाया था। १८वीं सदी से मुसलमानी हिन्दी का, जिसे उर्दू कहते हैं, ज़ोर बढ़ा। हिन्दी से संस्कृत और शुद्ध हिन्दी-शब्दों को यथासम्भव निकाल कर एक नई भाषा "उर्दू" उत्तर-भारत में आ गई। उर्दू की चढ़ाई से उत्तर-भारत की प्रजा को मुख्यतः रामचरितमानस की भाषा ने बचाया। लोगों के होठों पर तुलसी की भाषा और मन में तुलसी के भाव अगर सदा के लिये नहीं बस गये होते, तो हमारी भाषा में उर्दूपन के साथ-ही-साथ हमारा आध्यात्मिक अधःपतन भी हो जाता। अतः संस्कृत-शैली की आधुनिक भारतीय भाषा परम्परा में तुलसीदास की सत्कृति को अवश्य उसके योग्य समादर देना चाहिये।

मैं बंगाली हूँ। मैं अपनी बंगाली-जाति के लिए इसे दुर्भाग्य समझता हूँ कि तुलसी-जैसे महापुरुष हमारे प्रदेश में प्रादुर्भूत नहीं हुए। कुछ-कुछ भाषा के प्राथक्य के कारण हम तुलसीदास को विशेष अपना नहीं सके। पुराने बँगला-साहित्य में एक मुसलमान कवि द्वारा किए हुए अनुवाद के रूप में मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' बंगाली पाठकों के सामने— खासकर चटगाँव की मुसलमान बंगाली जनता के सामने—१७ वीं सदी के द्वितीयार्ध मे पेश की गई थी। नाभादास की 'भक्तमाल' का बँगला-अनुवाद हो चुका है। उसी से तुलसीदास की जीवन-कहानी से बंगाली पाठक—विशेषकर वैष्णव-समाज के पाठक—परिचित हुए। पुराने ज़माने में बंगाल में हिन्दी के परिचय की कुछ कमी नहीं थी; पर परिताप की बात है कि तुलसी की ओर बहुत कम लोग आकृष्ट हुए। तुलसी की रचनाओं से परिचित होने का सौभाग्य बहुत देर तक हम बंगालियों को नहीं मिला। पर एक बार परिचय होने के बाद हम उन्हें छोड़ नही सकते, हम भी उनके चरणों के दास बन गये हैं। कोई पचास वर्षों के बीच 'रामचरितमानस' के कम-से-कम तीन स्वतन्त्र बँगला-अनुवाद प्रकाशित हुए, जिनमें दो अनुवादों के साथ बँगला-अक्षरों में तुलसी की मूल रचना भी दी गई है। तुलसी के बहुत से नीति और भक्तिमूलक दोहे भी बंगाल में चालू हैं। कुछ ऐसे अनु-

भवी बंगाली सज्जन हैं, जो तुलसी-रामायण को बड़े ही चाव से पढ़ते हैं और उनकी विनय-पत्रिका आदि पुस्तकों की भी चर्चा करते हैं।

तुलसी के चरणों में बैठने का शुभ अवसर मुझे कोई पच्चीस बरस पूर्व प्राप्त हुआ था, जब मैंने पहली बार 'रामचरितमानस' का पाठ किया था। मैंने उसे भाषा तात्त्विक दृष्टि से ही पढ़ना शुरू किया था; मेरे पाषण्डी मन पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। व्याकरण के सुप्-तिङ्, भाषातत्त्व का सूक्ष्म विचार, उच्चारण-तत्त्व की नुक्ता-चीनी आदि सब हृदय के भावोद्वेग से बह गये, अन्तःकरण भर गया और सूखी आँखें आँसुओं से भीग गईं। तब से मैं तुलसी को छोड़ नहीं सका। अपने व्यक्तिगत जीवन में मैंने उनको ऊँचे-से-ऊँचे आसन पर बिठाकर अपने-आपको उनका दास ही माना है।

—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

सूरदास का काव्य और सिद्धान्त

भक्त-शिरोमणि सूरदास 'सूरसागर' काव्य में कुसुम-सदृश असंख्य छोटे-छोटे हृदयहारी पदों को गूँथकर श्रीकृष्ण की बाल्य-लीला का एक अपूर्व हार हमारे उपभोग के लिये रख गए हैं। उस हार के वात्सल्य, सख्य, मधुर (शृङ्गार) और शान्त रसों का जो परिमल आज चार सौ वर्षों से दिगन्त-पर्यन्त परिव्याप्त है, उसकी माधुरी कदापि घटने वाली नहीं, वह सदैव हमारे मानस को परितृप्त करती रहेगी। सूरदास ने यशोदा-देवी के मातृ-स्नेह का आ-लेख्य इस सूक्ष्मता तथा निपुणता से चित्रित किया है कि उसे देखकर नन्द-रानी और गोपाल हमारे नेत्रों के सामने सजीव प्रतीत होते हैं। सूरदास के शिल्प का यह दिग्दर्शन सौन्दर्य का एक स्थायी आदर्श बना हुआ है। मानव-जीवन का एक और प्रबल आवेग है। वह है नर-नारियों का पारस्परिक आकर्षण। इसके चित्रण में भी सूरदास ने असाधारण दक्षता दिखाई

है। नायक-नायिका के रूप-वर्णन में और उनके तीव्र आवेगमय मनोभावों के विश्लेषण में भी सूरदास ने असीम पारदर्शिता दिखाई है।

स्त्री-पुरुषों के म की अभिव्यक्ति में नाना वैचित्र्यों का उद्भव होता है, जो शृङ्गार रस के अन्तर्गत हैं। शृङ्गार-रस नाक सिकोड़ने की वस्तु नहीं है—केवल इतनी ही सतर्कता आवश्यक है कि वह श्लीलता की सीमा का उल्लंघन न करे। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में लिखा है—"यत्किञ्चित् लोके मेध्यं सुन्दरं तत्सर्वं शृङ्गाररसेनोपमीयते।" अर्थात् मानव-समाज में जो कुछ पवित्र तथा अपवित्र तथा सुन्दर है, उसकी तुलना के लिये शृङ्गार रस का उपयोग किया जाता है।

रस किसे कहते हैं? किसी वस्तु के आस्वादन में जिस आनन्द का अनुभव होता है वही 'रस' है। श्रुति कहती है—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्देन प्रयान्त्यभिसंविशन्ति।" अर्थात् आनन्द से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है, आनन्द में ही वे जीवित रहते हैं, और ध्वंस को पाकर वे आनन्द में ही पुनः प्रवेश करते हैं।

अतएव सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में—सब समय—आनन्द विद्यमान है। 'आनन्द' परमात्मा का एक स्वरूप है। जिसका स्वरूप ही आनन्द है उसके द्वारा आनन्द का अनुभव कैसे संभव है? आनन्द के निमित्त उसको किसी पृथक् सत्ता की आवश्यकता होती है। अतएव आनन्द-स्वरूप परमात्मा ने इच्छा को—"एकोऽहं बहु स्याम्—मैं अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ।" यही कारण उनके सगुण-भाव धारण करने का है। आनन्दानुभव के निमित्त ही उन्होंने विश्व की सृष्टि की है। 'बहु' न होने से विलास क्योंकर हो सकता है[1]? आनन्दानुभव के लिये ही परमात्मा और जीवात्मा का भेद-भाव रक्खा गया है[2]। 'परमात्मा'

१. "गोकुल जनम लियो सुख कारन, गोपिन मिलि सुख भोगूँ।"

२. "प्रकृति पुरुष एकै करि जानहुँ, बातनि भेद बतायो।
जल थल जहाँ तहाँ तुम बिनु नहिं, भेद उपनिषद गायो।
द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोउ, सुखकारन उपजायो॥"

पुरुष हैं और 'जीवात्मा' प्रकृति। प्रकृति ब्रह्म में ही विद्यमान रहती है। जो वस्तु भीतर थी उसका बहिर्विकास-मात्र हुआ; क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जीवात्मा परमात्मा में आत्म-समर्पण करना चाहता है, और भेदात्मक आवरण (माया) को न हटाकर[3] परमात्मा की अनुभूति के द्वारा अनन्द में मग्न रहने का अभिलाषी है। इस आकांक्षा को कार्य में परिणत करने के लिये जिस उपाय का अवलम्बन किया जाता है उसका नाम है 'साधना'। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों वा सम्प्रदायों की साधना-प्रणाली भिन्न-भिन्न है। जो लोग साधना के मार्ग में अधिक अग्रसर हुए हैं, वे योग तथा समाधि के द्वारा भगवान् को पाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु यह प्रणाली साधारण जनों के लिये बहुत कठिन है। यह शुष्क तथा नीरस है[४]। मनुष्य आनन्द चाहता है भगवान् को 'कर्महीन और निरवच्छिन्न ज्ञान का स्वरूप' कल्पित करते हुए उनमें अपने-आपको विलीन करने से मनुष्य को सन्तोष नहीं मिलता। साधारण मनुष्य स्थूल तथा सरस भाव से भगवान को प्रेम अर्पित करना चाहता है।[५]

---

३. ईश्वर हैं शुद्ध चैतन्य, और जीव अज्ञानावृत चैतन्य। जीव, जीव रहकर ही, परमात्मा का आस्वादन करना चाहता है—वह शुद्ध चैतन्य ईश्वर नहीं बनना चाहता। यही वैष्णवों का धर्म-मत है।

४. (क) सगुन सरूप रहत उर अन्तर, निर्गुन कहा करौं।
निसिदिन रसना रटत स्याम गुन, का करि जोग मरौं॥
(ख) जाकी कहूँ थाह नहिं पैए, अगम अपार अगाधै।
गिरिधरलाल छबीले मुख पर, इतने बाँध को बाँधै॥

५. (क) जिहिं उर कमलनयन बसत हैं, तिहिं निर्गुन क्यों आवै
सूरदास सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरो भावै॥
(ख) स्याम गात सरोज आनन, ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास॥

भगवान् के प्रति भक्त के प्रेम को सूफियों ने मानवीय प्रेम के आधार पर गठित किया है; किन्तु उन्होंने भगवान् का कोई रूप नहीं माना। वैष्णवों ने वास्तविक आकार में भगवान् की कल्पना की है। भगवान की विराट् सत्ता के भीतर रहते हुए भी जीवात्मा विरह-वेदना अनुभव करता है, और उनके अखण्ड रूप की उपलब्धि करने के निमित्त व्यग्र रहता है; किन्तु उनके साथ—अद्वैतवादियों की तरह—एकीभूत होने की आकांक्षा नहीं करता। वैष्णवों ने भगवान् के एक मानवीय रूप की कल्पना कर मानवीय स्थूल प्रेम के आदर्श से अपना प्रेम व्यक्त किया है। उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा को मानवीय आकार देकर उन दोनों के भीतरी सम्बन्ध को प्रेमिक-प्रेमिका के आकर्षण के रूप में व्यक्त किया है। किन्तु मधुर (शृङ्गार) रस के सब लक्षणों को व्यक्त करते हुए वैष्णव कवियों की अधिकांश रचनाओं में अश्लीलता का धब्बा लग गया है। इन्द्रियों की भाषा के द्वारा अतीन्द्रिय विषयों की व्याख्या करने में यह अवश्यम्भावी है।

स्थान-स्थान पर सूरदास की कविता रुचि-विरुद्ध विवेचित हो सकती है। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि किसी रस के वर्णन में उस रस के अन्तर्गत जितने प्रकार के आवेगों तथा भावों की उत्पत्ति हो सकती है उन सबके विस्तृत विश्लेषण में ही रस-शास्त्रानुसार काव्य की श्रेष्ठता प्रकट होती है। शृङ्गार रस के वर्णन में जो-जो कार्य वा भाव आज-कल अश्लील गिने जाते हैं, वे उस रस के अंग हैं, उनको छोड़ देने से रस सम्पूर्णतया परिस्फुट नहीं होता।

अश्लीलता के वर्णन के अभिप्राय से सूरदास काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त नहीं हुए थे। उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य था भगवान् के लीला-माधुर्य का आस्वादन करना तथा कराना। उनकी व्याख्या में यदि कहीं अश्लीलता का सीमोल्लङ्घन भी हुआ हो तो हम यह कहना उचित समझते हैं कि वे जिस काल में अवतीर्ण हुए थे और जिस वातावरण में जीवित थे, उसमें और उसके पूर्ववर्ती काल में इस प्रकार का स्थूल वर्णन दोष नहीं समझा जाता था। उन्होंने प्राचीन रीति

का अनुसरण किया है। कालिदास ने 'कुमार-सम्भव' के समग्र अष्टम सर्ग में हर-पार्वती का सम्भोग-वर्णन किया है। जयदेव भी इस विषय में निरपराध नहीं। विद्यापति के अनेक पदों ने अश्लीलता की सीमा का अतिक्रम किया है। पूर्व-काल में नायक-नायिका के सम्भोग का विवरण न देने से काव्य अंगहीन विवेचित होता था।

वृन्दावन की लीला में श्रीकृष्ण पुरुष हैं और गोपियाँ प्रकृति। विष्णु-पुराण वा श्रीमद्भागवत में 'राधा' का नाम नहीं पाया जाता। केवल हरिवंश के एक स्थान में इङ्गित-मात्र है। इससे अनुमान होता है कि 'हरिवंश' भागवत का परवर्त्ती है। जयदेव द्वादश शतक के अन्त में विद्यमान थे। उन्होंने राधा-कृष्ण की लीला गाई है। दार्शनिकों में निम्बकाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में सबसे पहले राधा-कृष्ण की उपासना की घोषणा की है। निम्बार्क का जन्म विक्रम-संवत् १२१९ में हुआ था। अतएव वे जयदेव के समकालीन थे। इससे अनुमान होता है कि जयदेव और निम्बार्क के कुछ समय पहले ही किम्वदन्ती वा साहित्य-क्षेत्र में 'राधा' नाम का आविर्भाव हुआ था; क्योंकि गाथा-सप्तशती में 'राधा' का नाम मिलता है।

कृष्ण-भगवान् के लीला-विषयक ग्रन्थों में पहले केवल गोपियाँ ही थीं, 'राधा' न थीं। पीछे गोपियों के सार-स्वरूप 'राधा' की कल्पना हुई। गोपियाँ प्रकृति का व्यष्टि-भाव हैं, और राधा समष्टि-भाव।

विष्णु-पुराण, भागवत तथा हरिवंश में श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीला का वर्णन है, किन्तु महाभारत में नहीं। महाभारत में वृन्दावन का नाम नहीं, न व्रजलीला का उल्लेख। 'कृष्ण' द्वारकाधीश हैं, केवल इतना ही परिचय मिलता है। राजसूय-यज्ञ-कालीन शिशुपाल की निन्दा प्रक्षिप्त मानी जाती है।

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण बहुत आधुनिक है। इसमें राधा का वर्णन मिलता है। सूरदास के समय 'राधा' का नाम और राधा-कृष्ण की लीलाएँ अपरिचित न थीं। उनको अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्य से इस विषय का उपदेश भी मिला होगा।

सृष्टि के आदि से ही प्रकृति और पुरुष की लीला चल रही है। वैष्णवगण कहते हैं कि वृन्दावन की लीला के लिये भगवान् ने प्रकृति के प्रतीक-स्वरूप 'राधा' नाम का एक पृथक् विग्रह उत्पन्न किया और स्वयं भी आकार ग्रहण किया[1]। 'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।' आनन्द-स्वरूप के विकार से जिस शक्ति का विकास होता है उसका नाम है 'ह्लादिनी' वा 'राधा'। पुरुष का ही रूपान्तर है प्रकृति, अतएव राधा-कृष्ण अभिन्न हैं। राधा-कृष्ण का विहार ही आदर्श शृङ्गार रस का विलास है। श्रीकृष्ण हैं सौन्दर्य के आधार, शृङ्गार रस के मूर्त्तिमान विग्रह तथा नायक-शिरोमणि; और राधा हैं सौन्दर्य की प्रतिमा, शृङ्गार रस की मधुरिमा और आदर्श नायिका। अतएव राधा-कृष्ण की उपासना है सौन्दर्य की उपासना—रस-स्वरूप की भावना।

वैष्णवगण और भी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के साथ राधा तथा गोपियों का विहार प्राकृत विहार नहीं, वरन अप्राकृत है। कारण, श्रीकृष्ण हैं चिन्मय विग्रह और व्रज-देवियाँ चिन्मयी। व्रज-लीला है विशुद्ध प्रेम-लीला। माया के राज्य में माया का विकार-स्वरूप 'काम' है। किन्तु चिन्मय राज्य में 'काम' नहीं रह सकता। चिन्मय राज्य केवल प्रेम का राज्य है। वहाँ सब आनन्दमय है। काम-विजय ही इस लीला का उद्देश्य है। "व्रज-वधूगण के संग विष्णु की रास-लीला को श्रद्धा के साथ जो सुनता वा सुनाता है, वह धीर मनुष्य परा भक्ति प्राप्त कर हृदय के रोग-स्वरूप काम का सदा के लिये त्याग करने में समर्थ होता है[2]।" अतएव इसमें किसी प्रकार की अश्लीलता का आक्षेप नहीं किया जा सकता। वैष्णवों के मतानुसार श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं—शेष सब प्रकृति है। अतएव जीव भी प्रकृति है। प्रकृति और पुरुष

---

१ अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥—(गीता ४, ६)

२ विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितो नु शृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

नित्य संपृक्त हैं। भागवतादि ग्रन्थों में इसका रूपक-मात्र वर्णित हुआ है। नव्य उपनिषद् गोपाल-तापनी में समग्र व्रज-लीला ही रूपक के समान व्याख्यात हुई है। प्रकृति और पुरुष की घनिष्ठता को मानव-हृदय में स्पष्ट करने के लिये ही भगवान् ने अवतार-ग्रहण किया था। रास-लीला-प्रांगण में प्रत्येक गोपी अनुभव कर रही थी कि कृष्ण केवल मेरे ही पार्श्ववर्त्ती हैं। इस प्रकार के अनुभव से क्या उपनिषदोक्त एक-शाखा-स्थित दो पक्षियों के सदृश जीवात्मा के साथ परमात्मा का अवस्थान ध्वनित नहीं होता? सूरदास ने कहा है—"वे अविगति अविनासी पूरन, सब घट रहे समाई।"

"सूरदास ने प्रकृति-पुरुष (जीवात्मा-परमात्मा) के विषय में जैसा बताया है, वही असल बात है—

ब्रज ही बसे आपुहिं बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु, बातन भेद बतायो॥
जल थल जहाँ तहाँ तुम बिनु नहिं, भेद उपनिषद् गायो।
द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोउ, सुख कारन उपजायो॥

अर्थात् "व्रज में अवतीर्ण होकर तुम आत्म-विस्मृत हो गए हो। मैं प्रकृति और पुरुष को एक ही मानता हूँ। उनका भेद केवल बातों में है। जल-स्थल में और जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं है, यह रहस्य उपनिषदों में गाया गया है। देह दो हैं, किन्तु जीव (आत्मा) एक ही है। 'मैं और तुम'—यह भेद-भाव तुम्हीं ने आनन्दोपभोग के लिये उत्पन्न किया है।"

सूरदास भेद में भी अभेद को प्रत्यक्ष देखते थे। श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व में उनका अटूट विश्वास था। (परमात्मा यथार्थ में निर्गुण हैं और उनका स्वरूप है एक निःसम्बन्ध निरपेक्ष चैतन्य। लीला के लिए ही वे सगुण होते हैं।

सूरदास का सिद्धान्त उनके कुछ पदों से मिलता है, जिनमें से एक यह है—

सदा एकरस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, बिहरत जुगल स्वरूप ॥
सकल तत्व ब्रह्माण्ड-देव पुनि, माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गोपाल ॥
कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीवल्लभ प्रभु तत्व सुनायो, लीला-भेद बतायो ॥

अर्थात्—"महाविष्णु-स्वरूप श्रीकृष्ण अखंडित (पूर्ण) ब्रह्म हैं। वे अनादि और उपमा-रहित हैं, एक-रस (सदा निर्विकार) तथा आनन्दमय हैं, सदा युगल-रूप में विहार कर रहे हैं—कोटि कल्प बीत जाने पर भी वे इसका अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् उनके निकट काल की गति नहीं। वही पञ्च विंशति तत्त्व[1] और ब्रह्मांड-देव हैं। विधि, काल इत्यादि सब माया हैं। प्रकृति-पुरुष—श्री और (उनके पति) नारायण—सभी गोपाल (महाविष्णु) के अंश-मात्र हैं। कर्म, योग, ज्ञान, उपासना—सभी भ्रम (माया) के द्वारा आच्छन्न हैं।"

श्रीवल्लभाचार्य ने सूरदास को वैष्णव-सिद्धान्त तथा लीला-रहस्य का जो उपदेश दिया था, ऊपर के पद में वह संक्षेप में व्यक्त हुआ है।

[युगल रूप में राधा-कृष्ण नित्य विहार कर रहे हैं। इस विहार के स्थान में केवल गोपियों (मुक्त जीवों)[2] का प्रवेशाधिकार है। जो एक ही स्थान में सदा के लिए आबद्ध रहता है और काल का अनुभव नहीं कर सकता, वह निर्गुण से अधिक भिन्न नहीं।]

---

१. सत्व, रजः और तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं। प्रकृति से 'महत्' (बुद्धि or intellect), महत् से 'अहंकार' (individuality), अहंकार से 'पंच-तन्मात्र' (निर्विशेष सूक्ष्म पंचभूत), तन्मात्र स्थूल-भावापन्न होने से 'स्थूल-भूत' (क्षिति, अप्, तेज, मरुत और आकाश) और 'एकादश इन्द्रिय' (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन) उत्पन्न होते हैं। इन चौबीस तत्वों के अतिरिक्त एक तत्व 'पुरुष' है।

२. कबीरदास ने इनका नाम 'हंस' दिया है।

शैशवावस्था में ही पूतना, बकासुर, अघासुर इत्यादि के बध तथा गोवर्द्धन-धारण, अनल-पान, कालिय-मर्दन इत्यादि अलौकिक कार्य सम्पन्न करने के कारण गोपियाँ श्रीकृष्ण को ईश्वर ही जानती थीं। राधा और कृष्ण दोनों परस्पर के प्रेम से मुग्ध थे।

प्रत्येक शिल्पी के मानस क्षेत्र में सौन्दर्य का एक आदर्श बना रहता है और वह अपने कल्पना-निहित आदर्श को वास्तव रूप देने के लिये व्याकुल रहता है। जिसका आदर्श जितना ऊँचा होता है और प्रकाशन-शक्ति जितनी पटु एवं सुन्दर तथा हृदयग्राहिणी होती है, उसे उतनी ही—उसी परिमाण में सफलता प्राप्त होती है। सूरदास की रचना का विषय महान, आदर्श उच्च और वाक्विभव समृद्ध था। इन्हीं कारणों से उनकी कविता इतनी मधुर और मर्मस्पर्शिनी हो सकी है।

अच्छे कवियों को उपमाओं के लिये आकाश-पाताल खोजना नहीं पड़ता। सूरदास की उपमाएँ प्रायः स्वतः आ गई हैं। किन्तु कहीं-कहीं तो उपमाओं की प्रचुरता से जी ऊबने लगता है। तथापि कविवर के गुण-सन्निपात में अणु-परिमाण दोष निमज्जित हो गया है।

अब देखना चाहिये कि सूरदास के जीवन के साथ उनके काव्य का सामञ्जस्य है या नहीं। सूरदास आजीवन त्यागी थे। बल्लभाचार्य के द्वारा दीक्षित होने के बाद से उन्होंने अपना जीवन गोकुल मे ही बिताया था। कृष्ण विषयक पद बनाकर और स्वयं उसे गाकर वे अपना समय काटते थे। अपने काव्य में उन्होंने जो कुछ व्यक्त किया है, सब भक्त-प्रसूत है। वे श्रेष्ठ कवि तो थे ही, निपुण गायक और परम भक्त भी थे। भक्ति ही उनके काव्य तथा संगीत का उत्सर्ग थी। वे भक्ति-रस में आकण्ठ निमग्न थे।

कोमल कान्त पद जितने 'सूरसागर' में पाए जाते हैं, उतने अन्य कवियों के काव्य में नहीं। मानव-जीवन की जो वेदनाएँ मनुष्य के मर्म-स्थल का स्पर्श करती हैं, उनको स्पष्ट करने में जो कवि जितना समर्थ हुआ है, उसको उतनी ही ख्याति मिली है। शेक्सपीयर के

जगद्वरेण्य होने का यही कारण है। सूरदास ने मनुष्य-हृदय के सार्वजनीन आवेगों को अति निपुणता से परिस्फुट किया है। इस दिशा में उनका कृतित्व असाधारण है। उनका शिल्प प्रधानतः दो रसों के भीतर सीमित है। फिर भी उन रसों के अंकन में वे अद्वितीय हैं। उन्होंने वात्सल्य तथा शृङ्गार रसों की आलेख्यावली इस सूक्ष्मता तथा निपुणता से चित्रित की है कि उसे देखकर चित्त चकित और मुग्ध हो जाता है—उसके माधुर्य का आस्वादन कर मन परितृप्त हो जाता है। भावों की कोमलता और विचित्रता, विन्यास की अपूर्व और रमणीयता तथा शब्दों के लालित्य और झंकार की दृष्टि से हिन्दी के महाकवियों में सूरदास का आसन बहुत ही उच्च है। भक्तों की दृष्टि में तो उनके शृङ्गार-रसात्मक पद भी भक्ति-रसात्मक ही प्रतीत होते हैं।

विद्यापति भी बड़े अच्छे कवि थे। उनके पदों की कोमलता और लालित्य भी प्रसिद्ध है। इन बातों में कदाचित् वे सूरदास से श्रेष्ठ थे, किन्तु सूरदास की भक्ति की गम्भीरता उनके पदों में विरल है। हाँ, एक कवि चन्डीदास थे, जिनके पदों की आवेग-भरी सरलता की कोई तुलना नहीं।

सूरदास के पदों में भी भक्ति की मंजुल तरंगें लहरा रही हैं। वे जीवनावसान के समय दो स्वरचित पदों—"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।" और "खंजन-नैन रूप-रस माते"—की आवृत्ति करते हुए ही चिरानन्दमय अमरधाम को सिधारे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित सुन्दर दोहा लिखा है।

मन समुद्र भयो सूर को, सीप भए चख लाल।
हरि मुक्ताहल परत ही, मूँदि गए तत्काल॥

—श्री नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न

हास्य का मनोविज्ञान

हँसी क्यों आती है ? किसी बात अथवा किसी स्थिति के भीतर कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसे सुनकर या देखकर लोग खिलखिला पड़ते हैं ? जब शब्दों में श्लेष का व्यवहार होता है, जब कोई विचित्र आकार हम देखते हैं, जब हम सड़क पर किसी को बाइसिकिल से फिसलकर गिरता देखते हैं अथवा जब किसी अभिनेता की विचित्र भावभंगी देखते हैं, हमें हँसी आ जाती है। क्या इन सब व्यापारों में कोई ऐसी बात छिपी है जो सबमें सामान्य है ? प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने शृङ्गार रस के अन्वेषण में इतनी छान-बीन की कि मालूम होता है, और रसों की सूक्ष्मता पर विचार करने का उन्हें अवकाश ही न मिला। हाँ, हास्य को उन्होंने एक रस माना है अवश्य। इसका स्थायी भाव हँसी है—शब्द, वेश, कुरूपता इत्यादि उद्दीपन हैं। परंपरा के अनुसार इसके देवता, रंग, विभाव, अनुभाव, सब स्थिर कर लिए गए। यह भी बताया गया कि हँसी कितने प्रकारों की होती है। यह सभी बाह्य बातें हैं। जहाँ उद्दीपनों की व्याख्या इस रस के सम्बन्ध में की गई वहाँ इसका भी विश्लेषण होना चाहिए था कि क्यों उन्हें देख-सुनकर हँसी आ जाती है। अरस्तू तथा अफलातून-जैसे विद्वानों ने इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की; पर असफल रहे। पाश्चात्य दार्शनिक सली, स्पेंसर आदि ने भी इस पर विवाद किया है। अधिकांश विद्वानों ने इसी तर्क में अपनी शक्ति लगा दी है कि किस बात पर हँसी आती है। क्यों हँसी आती है, इधर कम लोगों ने ध्यान दिया है।

प्रत्येक परिहासपूर्ण विषय में तीन बातों का समावेश होना आवश्यक है। पहली बात जो सब हँसी की बातों में पाई जाती है, वह है 'मानवता'। बहुत-से लोगों ने मनुष्य को वह प्राणी बतलाया है जो हँसता है। कोई प्राकृतिक दृश्य हो, बड़ा मनलुभावना हो सुन्दर हो; परन्तु उसे देखकर हँसी नहीं आती। हाँ, किसी पेड़ की डाली का रूप किसी मनुष्य के चेहरे के आकार के समान बन गया हो, अथवा

किसी पर्वत-शिला का रूप किसी व्यक्ति के अनुरूप हो, तो उसे देखकर अवश्य हँसी आ जाती है। कोई विचित्र टोपी या कुर्ता देखकर भी हँसी आ जाती है; परन्तु सचमुच यदि हम ध्यान दें तो टोपी अथवा कुर्ते पर हँसी नहीं आती, बल्कि मनुष्य ने जो उसका रूप बना दिया है उसे देखकर हँसी आती है। इसी प्रकार सभी ऐसी बातों के सम्बन्ध में—जिन्हें देख या सुन या पढ़कर हँसी आती है—यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि उसके आवरण में मनुष्य किसी न किसी रूप में छिपा है। दूसरी बात जो हँसी के विषय में आचार्यों ने निश्चित की है वह है वेदना अथवा करुणा का अभाव। भारतीय शास्त्रियों ने भी करुण रस को हास्य का विरोधी माना है। जब तक मनुष्य का हृदय शांत है, अविचलित है, तभी तक हास्य का प्रवेश हो सकता है। जहाँ कारुणिक भावों से हृदय उद्वेलित हो वहाँ हँसी कैसे आ सकती है? भावुकता हास्य का सबसे बड़ा वैरी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो हमारी दया का पात्र है अथवा जिस पर हम प्रेम करते हैं, उस पर हम हँस नहीं सकते। परन्तु उस अवस्था में, क्षण ही भर के लिये सही, हमारे मन से प्रेम अथवा करुणा का भाव हट जाता है। बड़े-बड़े विद्वानों की मंडली में, जहाँ बड़े परिपक्व बुद्धिवाले हों, रोना चाहे कभी न होता हो हँसी कुछ न कुछ होती ही है। परन्तु जहाँ ऐसे लोगों का समुदाय है जिनमें भावुकता की प्रधानता है—बात-बात में जिनके हृदय पर चोट लगती है, उन्हें हँसी कभी आ नहीं सकती। तुलसीदास का एक सवैया है—

> बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
> गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे॥
> ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

इस कविता में व्यंग द्वारा जो परिहास किया गया है उसके कारण सहज ही हँसी आ जाती है; परन्तु यदि हम उसे पढ़कर उस काल के साधुओं के आचरण पर सोचने लगें तो हास्य के स्थान पर ग्लानि

उत्पन्न होगा। संसार के प्रत्येक कार्य के साथ यदि सब लोग सहानुभूति का भाव रक्खें तो सारे संसार में मुर्दनी छा जायगी। सब लोगों के हृदय की भावनाओं के साथ हमारा हृदय भी स्पंदन करे तो हँसी नहीं आ सकती, और वही यदि तटस्थ रहकर संसार के सभी कृत्यों पर उदासीन व्यक्ति की भाँति देखा जाय तो अधिक बातों में हँसी आ जाएगी। देहाती स्त्रियाँ किसी आत्मीय के मर जाने पर बड़ा वर्णन करके रोती हैं। यदि कोई उनका रोना सुने, पर यह उसे विश्वास हो कि कोई मरा नहीं है, तो सुननेवाले को हँसी आ जाएगी! रोने का अभिनय तो कितने अभिनेता करते हैं उसे सुनकर रुलाई नहीं आती, बल्कि हँसी; क्योंकि वहाँ वेदना का अभाव है। दूसरा उदाहरण लीजिए। कहीं नाच होता हो और गाना एकदम बंद कर दिया जाय और बाजा भी, तो नाचनेवाले को देखकर तुरन्त हँसी आ जाएगी। हँसी के लिये आवश्यक है कि थोड़ी देर के लिये हृदय बेहोश हो जाय। भावुकता की मृत्यु तथा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये जरूरी है। हँसी का सम्बन्ध बुद्धि और समझ से है; हृदय से नहीं। इसी के साथ तीसरी एक और बात है। बुद्धि का सम्बन्ध और लोगों की बुद्धियों से बना रहना चाहिए। अकेले विनोद का आनन्द कैसे आ सकता है? हास्य के लिए प्रतिध्वनि की आवश्यकता है। जब कोई हँसता है तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूँजती रहती है। परन्तु हँसनेवालों की संख्या अपरिमित नहीं हो सकती; एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बात पर हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रों में जो व्यंग-विनोद की चुटकियाँ प्रकाशित होती हैं उनका आनंद इसी कारण सबको नहीं आता; जिन्हें कुछ बातें मालूम हैं उन्हीं को हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः सब बातों में होता है। दस व्यक्ति बातें करते हों और हँसते हों—जिन्हें उन बातों का संकेत मालूम है वे तो हँसते हैं, और लोग बैठे बातें सुनते भी हैं तो हँसी नहीं आती। एक भाषा के विनोदात्मक लेखों का सफल अनुवाद दूसरी भाषा में इस कारण साधारणतः नहीं होता कि पहले पेरा

की सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरे से भिन्न है।

उपर्युक्त तीनों बातें प्रत्येक हास-परिहास के व्यापार के भीतर छिपी रहती है—चाहे वह व्यंग-चित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंगपूर्ण लेख अथवा कविता हो; इन तीनों बातों की भित्ति पर यदि ये बने हैं तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो सूक्ष्म विचार करने से हास्य का और भी विश्लेषण हो सकता है; पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसी के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु में साधारणतः जो बातें हम देखते, सुनते, समझते या पाने की आशा करते हैं, उनमें सहसा या शनैःशनैः परिवर्त्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समय का हो सकता है। जिस स्थान पर जो बात होनी चाहिए उसका अभाव, अथवा न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंभीरता का भाव न आने पाए। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस समय जो न होना चाहिए, उसमें उस समय कोई बात न होना या होना। मुझे याद है, एक बार एक मित्र के यहाँ तेरहवीं के भोज में हम लोग गए थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मजाक कर रहे थे और जोर-जोर से हँस रहे थे। यह देखकर जिसके यहाँ हम लोग गए थे उसने कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि आप लोग गमी की दावत में आये हैं। यह सुनकर एक बहुत सीधे सज्जन ने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौके पर आएँगे तो न हँसेंगे। इसे सुनकर बड़े जोरों का कहकहा लगा। बात असामयिक थी और ऐसा न कहना चाहिए था; पर कहे जाने पर कोई हँसी न रोक सका। यहाँ पर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्य को करना चाहिए था, अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसर पर लोग व्यवहार करेंगे, उससे विपरीत बात हुई, इसी कारण हँसी आ गई। एक आदमी चला जा रहा है, रास्ते में केले का छिलका पैर के नीचे पड़ता है और वह गिर पड़ता है; सब लोग हँस पड़ते हैं। यदि वह मनुष्य यकायक न गिरकर चलते-चलते धीरे से बैठ जाता तो लोग न हँसते। वास्तव में जब किसी को लोग चलते देखते हैं तब यही

आशा करते हैं कि वह चलता जाएगा। पर वह जो यकायक बैठ जाता है, इस साधारण स्थिति में यकायक परिवर्त्तन हो जाने के कारण हँसी आ जाती है। एक बार मेरे स्कूल के पास एक बरात ठहरी हुई थी। तंबू के नीचे नाच हो रहा था। तंबू की रस्सी मेरे स्कूल की दीवार में कई जगह बँधी हुई थी। कुछ बालकों ने शरारत से इधर की सब रस्सियाँ खोल दीं। एक ओर से तंबू गिरने लगा। यकायक सारी मंडली में भगदड़ मच गई। जितने लोग बाहर देख रहे थे, महफिल-वालों के भागने पर बड़े जोर से हँसने लगे। यह जो स्थिति में सहसा परिवर्त्तन हो गया, वही हँसी का कारण था। इसी प्रकार, कार्टून अथवा व्यंग-चित्र को देखकर हँसी इसलिए आती है कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता है, वहाँ उससे भिन्न—अनुपात से विरुद्ध—वस्तु मौजूद है। जहाँ डेढ़ इंच की नाक होनी चाहिए वहाँ तीन इंच की, जहाँ दो फीट के पैर होने चाहिए वहाँ पाँच फीट के रहते हैं। हाजिरजवाबी की बातों पर भी इसीलिए हँसी आती है कि जैसे उत्तर की आशा सुनने-वाले को नहीं है वैसा श्लिष्ट, द्व्यर्थक अथवा चमत्कारपूर्ण उत्तर मिल जाता है। यहाँ भी साधारण से भिन्न अवस्था हो जाती है। हाँ, यहाँ भी गंभीरता का भाव हृदय में न आना चाहिए।

ऊपर यह कहा गया है कि गंभीरता अथवा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिए आवश्यक है। यह इसलिए कि करुणा, क्रोध, घृणा आदि हास्य के वैरी हैं। हास्य से गंभीरता का इस प्रकार एक विचित्र तारतम्य है। किसी गंभीर बात पर साधारण से परिवर्त्तन होने पर हँसी आ जाती है; पर यही हँसी धीरे-धीरे फिर गंभीरता धारण कर सकती है।

मान लीजिए, कोई सज्जन कहीं जाने के लिये कपड़ा पहनकर तैयार है और पान माँगते हैं। स्त्री एक तश्तरी में पान लेकर आती है। वे पान खाते हैं। यहाँ तक कोई हँसी की बात नहीं है, न हँसी आती है; पूरी गंभीरता है। अब मान लीजिये कि पान में चूना अधिक है। खाते ही जब चूना मुँह में काटता है तो खानेवाला मुँह बनाता है। आपको उसे देखकर हँसी आती है। अब वह पान थूकता है और अनाप-

शनाप बकने लगता है। इस समय वह हास्यास्पद हो जाता है। इसी क्रोध में वह तश्तरी उठाकर अपनी स्त्री के ऊपर फेंक देता है। अब उसे देखकर हँसी नहीं आती, बल्कि घृणा होती है। इसके बाद हम देखते हैं कि स्त्री के हाथ में तश्तरी से चोट आ गई है। अब हमें क्रोध आ जाता है और पुनः हम गंभीर हो जाते हैं। हम इस प्रकार देखते हैं कि गंभीरता का विचार-मात्र हास्य के लिये घातक है। साथ ही, यह भी है कि गंभीरता की जब अति होने लगती है तब हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य की मनोवृत्ति केवल बुद्धि पर अवलम्बित है। यह समझना भूल है कि बुद्धिमान लोग नहीं हँसते। गंभीर लोग नहीं हँसते, गंभीर लोगों पर हँसी आती है। हाँ, हास्य की पूर्त्ति के लिये व्यंग एक आवश्यक वस्तु है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकता है और भद्दा से भद्दा। प्राचीन संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में, विशेषतः कविता में, और अँगरेजी साहित्य में भी, प्रचुर परिमाण में व्यंगपूर्ण परिहास मिलता है। व्यंग में भी सामान्य अथवा साधारण स्थिति में जो होना चाहिए उसके अभाव की ओर संकेत रहता है, इसी से उसे पढ़कर या सुनकर हँसी आती है।

— श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल्-टी०

भारतीय-कला में गंगा और यमुना

पतितपावनी माता गङ्गा के नाम से कौन अपरिचित होगा। वैज्ञानिक संसार न केवल इसके जल का गुण गान किया करते हैं वरन् गंगा को हिन्दू धार्मिक हृदय में बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। भारत के प्राचीनतम साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक गंगा-यमुना की स्तुतियाँ अनेक स्थलों पर सुलभ हैं तथा स्तुति विषयक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेदिक काल में गंगा तथा यमुना को आधुनिक महत्पूर्ण स्थान प्राप्त न था, परन्तु एक स्थान पर अन्य नदियों के साथ इनकी भी कुछ स्तुति की गई है—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं संचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥
—ऋक्०, १०–७५–५

इस प्रकार ऋषियों ने गंगा का नामोल्लेख किया है। संस्कृत साहित्य के रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में भी गंगा माता की स्तुति का पर्याप्त मात्रा में वर्णन मिलता है। पौराणिक समय में धार्मिक भाव की वृद्धि के साथ गंगा तथा यमुना का बहुत ही उच्चकोटि का वर्णन मिलता है। गंगा समस्त पापों को नाश करने वाली, पतितों को तारने वाली, जल स्पर्श मात्रा से स्वर्ग को देने-वाली बतलाई गई है[1]। इस प्रकार पुराणों में गंगा यमुना की महिमा का सुन्दर वर्णन मिलता है। हिन्दू शास्त्रों के अतिरिक्त बौद्ध जातकों में भी गङ्गा के पुण्य-स्थान सम्बन्धी धार्मिक यात्राओं का महत्त्व बतलाया गया है। इन उपर्युक्त वर्णनों से प्रकट होता है कि गङ्गा की प्रार्थना तथा पूजा प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा, बिना किसी भेद भाव के होती थी। गङ्गा तथा यमुना के धार्मिक भाव के विकास की ओर न जाकर मैं प्रस्तुत विषय पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इस लेख में यह दिखलाने का प्रयत्न किया जाएगा कि भारती कला में गङ्गा तथा यमुना की मूर्तियाँ कब और किस प्रकार बनने लगी। क्या इसकी उत्पत्ति पर किन्हीं अंशों में अन्य मूर्तियों का प्रभाव है? प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक गङ्गा तथा यमुना की मूर्तियों के विकास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा।

डा० कुमारस्वामी का मत है कि पूजा की धार्मिक भावना के साथ

---

(१) गंगेति स्मरणादेव क्षयं याति च पातकम्।
गंगातोयेषु तीरेषु तेषां स्वर्गोऽक्षयो भवेत ॥
—पद्मपुराण, अध्याय ॥६०॥

गङ्गाथ सरिता श्रेष्ठा सर्वकाम प्रदायिनी।
—ब्रह्मपुराण, अध्याय ॥ ६९ ॥

साथ मूर्तिकला का भी प्रारम्भ हुआ। या यों कहा जाए कि दोनों की उत्पत्ति एक ही मूल से हुई ; दोनों को पृथक् करना सरल कार्य नहीं है। शिल्पशास्त्र में वर्णन मिलता है कि मूर्तिकार शिल्पकला-कोविद के अतिरिक्त पुजारी हो तथा पूजा सम्बन्धी वैदिक मंत्रों से पूर्ण परिचित हो। इन समस्त गुणों से युक्त शिल्पकार को शान्त तथा शुद्ध आचरण का होना अनिवार्य बतलाया गया है। इन्हीं कारणों से पूजा तथा मूर्ति-विकास को अपृथक् मानना युक्तिसंगत है।

भारतीय शिल्पकला में हिन्दू-मूर्तियों का निर्माण गुप्त काल से पाया जाता है ; क्योंकि इसी स्वर्णयुग में ब्राह्मण धर्म का पुनः प्रचार हुआ जो परम भागवत गुप्त नरेशों के साहाय्य का परिणाम था। विष्णु-धर्मोत्तर में उल्लेख मिलता है कि गङ्गा तथा यमुना की मूर्ति वरुणदेव के साथ तैय्यार की जाती है ; जो वैदिक काल से एक महान् देव माने जाते थे। वेदों में वरुण की स्तुति के मन्त्र भी प्रचुरता से मिलते हैं। जिससे उनकी महत्ता का ज्ञान होता है। परन्तु विष्णुधर्मोत्तर के वर्णन के अतिरिक्त तक्षण कला में एक भी तत्सम उदाहरण नहीं मिलते। वरुण प्राचीन-काल में एक भी तत्सम उदाहरण नहीं मिलते। वरुण प्राचीन-काल में जलदेवता माने जाते हैं ; अतएव गङ्गा तथा यमुना (जलदेवी) का उनसे सम्बद्ध होना असंभव नहीं है, परन्तु वे उनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ नहीं हैं। इस स्थान पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गङ्गा तथा यमुना की मूर्ति का समावेश प्रस्तर कला में कैसे हुआ। इसका विचार करने से पूर्व गङ्गा और यमुना की मूर्तियों से समता रखने वाली विभिन्न प्रस्तर मूर्तियों पर ध्यान देना आवश्यक ज्ञात होता है।

ई० पू० द्वितीय तथा प्रथम शताब्दियों में भारतीय कला का विकास भरहुत, साँची तथा मथुरा में दृष्टिगोचर होता है। इस कला का सम्बन्ध बौद्धों से था। इसमें बुद्ध तथा उनकी जीवन सम्बन्धी कथाओं का समावेश किया गया है। वहाँ स्तूपों की वेष्टिनी पर अनेक पुरुषों की मूर्तियाँ मिलती हैं, जो द्वारपाल के स्थान पर या बोधि वृक्ष तथा चक्र के समीप चँवर लिए दिखाए गए हैं। कलाविदों ने इनको यक्ष का नाम

दिया है। डा० कुमारस्वामी यक्षों को उद्भिज देव या उसके रक्षक मानते हैं। उनका कथन है कि यक्ष की राक्षसों से समता नहीं की जा सकती। हिन्दू तथा बौद्ध ग्रन्थों में यक्ष का नाम मिलता है। यक्ष की तुलना ग्रामदेवता से की गई है। निकाय ग्रन्थों तथा जैन सूत्रों में बुद्ध भगवान को भी यक्ष माना गया है। संसार की उत्पत्ति जल से हुई, इस विचार धारा के कारण भरहुत तथा साँची की कला में आभूषण के निमित्त कमल, पूर्ण घट, मछली आदि (जो पानी से पैदा होते हैं) प्रयुक्त हुए हैं। उद्भिज देव होने के कारण यक्ष का भी जल से सम्बन्ध प्रकट होता है। अतएव भरहुत, साँची तथा मथुरा की कला से (गुप्तकला से पूर्व) यक्षी की मूर्ति मछली या मन्दर पर खड़ी वेष्टिनी के स्तंभों पर लगाई गई थी। भरहुत, वेसे नगर (साँची) तथा मथुरा में ऐसी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। डा० कुमारस्वामी का मत है कि इन्हीं यक्षी मूर्तियों से गुप्तकालीन गङ्गा की मूर्तिकला का जन्म हुआ। परन्तु यह सिद्धान्त सन्देह रहित नहीं ज्ञात होता।

विष्णुधर्मोत्तर के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि वरुणदेव के साथ गङ्गा तथा यमुना की मूर्ति निर्मित होती थी। यद्यपि ऐसी हिन्दू मूर्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं, परन्तु पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार सम्भवतः वरुण के साथ गङ्गा यमुना की मूर्ति भी बनती होगी। गुप्तकालीन देवगढ़ के दशावतार मन्दिर के द्वार के ऊपरी भाग में गङ्गा की मूर्ति मन्दर पर तथा यमुना की कूर्म पर, क्रमशः बाईं तथा दाहिनी ओर स्थित है। इसके विपरीत यक्षी की मूर्ति द्वारपाल के स्थान पर खुदी मिलती हैं। कालांतर में वरुण देव की वह महत्ता न रही तथा गङ्गा और यमुना की मूर्तियाँ स्वतंत्र रूप से गुप्त मन्दिरों के द्वार पर (प्रायः द्वारपाल के स्थान पर) मिलती हैं। गंगा तथा यमुना के द्वार पर स्थित होने से यह अभिप्राय नहीं निकाला जा सकता कि भरहुत तथा साँची की यक्षियों के सदृश वे द्वार रक्षक या द्वारपाल का कार्य संपादन करती थी; परन्तु गुप्तशिल्पकला का मुख्य ध्येय यह प्रतीत होता है कि द्वार पर दुःख विनाशनी माता गंगा के स्थित होने से मन्दिर में

किसी प्रकार की बुरी आत्मा का प्रवेश नहीं हो सकता। अतएव गंगा तथा यमुना को (यक्षी की तरह) द्वाररक्षक न मानकर द्वारदेवता कहना उचित होगा। विष्णु के द्वार-देवता जय-विजय के सदृश इनका सम्बन्ध शिव से था। भूमरा के शिव-मन्दिर में द्वार के ऊपरी भाग में शिव की मूर्ति के साथ-साथ द्वार-देवता गंगा तथा यमुना की भी मूर्तियाँ मिलती हैं। गुप्तों के अन्य मन्दिरों—तिगवा तथा देवगढ़—में गंगा और यमुना की मकर तथा कूर्मवाहिनी मूर्तियाँ मिलती हैं। उदयगिरि गुहा की मूर्तियाँ समुद्र में प्रवेश करती हुई दिखलाई पड़ती हैं। गंगा के वाहन मकर से यही तात्पर्य है कि इसका सम्बन्ध समुद्र से है तथा यमुना के कूर्म से यह प्रकट होता है कि इस नदी का सम्बन्ध किसी और नदी से है, समुद्र से नहीं। मथुरा में भी गंगा तथा यमुना की ऐसी ही मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मध्यभारत के ग्वालियर में स्थित भिलसा नामक स्थान से भी मकर वाहिनी गंगा की मूर्ति मिली है जो बोस्टन के संग्रहालय में सुरक्षित है। यों तो गुप्तकालीन ऐतिहासिक स्थानों (पहाड़पुर आदि) से गंगा तथा यमुना दोनों की मूर्तियाँ मिली हैं, परन्तु गंगा की विशेषता बढ़ती गई और समयान्तर में गंगा की पूजा की ही महत्ता समझी जाने लगी। उत्तरी भारत में मकरवाहिनी देवी का कतिपय स्थलों पर गंगा नाम दिया गया है जो पहले किसी भी लेख से प्राप्त नहीं होता। काँगड़ा के वैद्यनाथ-मन्दिर के लेख तथा भेड़ाघाट (जबलपुर मध्यप्रान्त) के लेख में मकरवाहिनी देवी गंगा के नाम से उल्लिखित मिलती है। इसके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर नामक ग्रन्थ में भी इसका नाम गंगा ही लिखा मिलता है।

इन समस्त विवरणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गंगा की मूर्ति तीन प्रकार की मिलती है—(१) वरुण के साथ गंगा, (२) द्वार-देवता के रूप में गंगा तथा (३) स्वतंत्र गंगा की मूर्ति।

तीसरे प्रकार की मूर्ति गुप्त-काल के पश्चात मध्ययुग में तैयार होने लगी। इस युग में गंगा को द्वार-देवता से भी अधिक महत्ता देकर दिव्य मूर्ति का रूपमय भाव पाया जाता है। तांत्रिकों के द्वारा गंगा की

विशेष पूजा होती थी। मंत्रसार में गंगा का संबंध शिव तथा विष्णु से बतलाया गया है (ॐ नमः शिवायै नारायणै दशरायै गंगायै स्वाहा) माता गंगा को, ध्यान के साथ[१] आवाहन करके, सुखदा तथा मोक्षदा का नाम दिया गया है –

सद्यःपातक संहन्ति सद्यो दुःख विनाशिनी।
सुखदा मोक्षदा गंगा गंगैव परमा गतिः।

प्राचीन भारत के मध्यकाल में गंगा की अनेक मूर्तियाँ स्वतंत्र या शिव के साथ, मिलती हैं। ये ईसा की आठवीं शताब्दी में इलोरा तथा राजशाही (उत्तरी बंगाल) में मिली हैं। राजशाही की मूर्ति है तो खंडित परंतु आभूषणयुक्त और सुन्दर दीख पड़ती है। यह गंगा-मूर्ति वारेन्द्र सोसायटी के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसी काल की गंगा तथा यमुना की प्रस्तर मूर्तियाँ वंगीय साहित्य-परिषद् के म्यूजियम में सुरक्षित हैं। गंगा की मूर्ति (नं० K (b) 141) मुर्शिदाबाद तथा यमुना की (नं० K(c)1) बिहार से प्राप्त हुई है। गंगा का दूसरा नाम भागीरथी भी है ; क्योंकि पौराणिक वर्णन के अनुसार भागीरथ गंगा को मृत्युलोक में ले आये थे। इस वर्णन के आधार पर भी दक्षिण भारत में गंगा नदी की मूर्ति का निर्माण होता था। एलेफेंटा में गंगाधर शिव की एक मूर्ति मिलती है जिसमें गंगा शिव की जटा में प्रवेश करती हुई दिखाई गई है। इस प्रकार कतिपय ग्रन्थों में गंगाधर शिव की मूर्ति का निम्नलिखित प्रकार से वर्णन मिलता है—

गंगाधरमहं वक्ष्ये सर्वलोकसुखावहम् ।
सुस्थितं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुंचितम् ॥
विश्लिष्यं स्याजटाबंधं वामे त्वीषन्नताननम् ।
दक्षिणे पूर्वहस्ते तु वरदं दक्षिणेन तु ॥

---

(१) ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रं च सर्वाभरणभूषिता।
रत्नकुम्भसिताम्भोजवरदाभयसत्कराम् ॥

देवीमुपाश्रितेनैव देवीमालिंगय कारयेत् ।
दक्षिणापरहस्तेनोत्द्धृयोष्णीषसीमकम् ॥
स्पृशेज्जटागतां गंगां वामेन मृगमुद्धरेत ।
देवस्य वामपार्श्वे तु देवी विरहितानना ॥
सुस्थितं वामपादं तु कुंचितं दक्षिणं भवेत ।
प्रसार्य दक्षिणं हस्तं वामहस्तं तु पुष्पधृक् ॥
सर्वाभरणसंयुक्तं सर्वालङ्कारसंयुक्तम् ।
भागीरथं दक्षिणे तु पार्श्वे मुनिवरान्वितम् ॥

—शिल्परत्न, पटल १२ ।

चतुर्भुजं त्रिनेत्रं च कपर्दमुकटान्वितम् ।
अभयं दक्षिणं हस्तं कटकं वामहस्तकम् ॥
कपर्दमुकुटं तेन गृहीतं जाह्नवीयुतम् ।
वामदक्षिणहस्तौ तु कृष्ण परशुसंयुतम् ॥
अभयं पूर्ववत्प्रोक्तं कपर्दोपेत हस्तकम् ।
तस्य वामे भवानीं तु कारयेल्लक्षणान्विताम् ॥
जान्वन्तं वापि नाभ्यन्तं भागीरथ्यास्तु मानकम् ।
प्रलम्बकजटोपेतमुष्णीषं जलहस्तकम् ॥
द्विभुजं च त्रिनेत्रं च वल्कलाम्बर संयुतम् ।
एवं गंगाधरं प्रोक्तं चण्डेशानुग्रहं शृणु ॥

—पूर्वकारणागम, पटल ११ ।

दक्षिण भारत में जटा में गंगा को धारण किये नटराज शिव की मूर्तियों का वर्णन मिलता है। राजपूत चित्रकला में भी चतुर्भुजी मकरवाहिनी गंगा का चित्र मिलता हैं। उसी भाव को लेकर आधुनिक काल में रविवर्मा ने शिव की जटा में स्थित गंगा के चित्रों को धार्मिक जनों के सम्मुख उपस्थित किया है।

इन उपर्युक्त विस्तृत विवरणों के आधार से यही प्रकट होता है कि गंगा तथा यमुना की लक्षण-कला में उत्पत्ति गुप्त-काल में ही हुई। इस

समय से पूर्व यक्षियों की जितनी मकरवाहिनी मूर्तियाँ मिली हैं उनमें स्पष्टीकरण नहीं हुआ था। गंगा का वाहन मकर होने के कारण उन यक्षियों से गंगा की समानता बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। यक्ष का सम्बन्ध जल से था मकर भी जलजंतु था, इसलिए मकरवाहिनी यक्षी के द्वारा उनका जल से सम्बन्ध स्पष्ट प्रकट होता है। इस प्रकार की यक्षी-मूर्ति से गंगा की उत्पत्ति मानना उचित नहीं प्रतीत होता। विष्णु-धर्मोत्तर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वरुण के साथ गंगा तथा यमुना की मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं; परन्तु समयान्तर में वरुण एक दिक्पाल रूप में माने जाने लगे अतएव गुप्तकालीन मन्दिरों में उनके साथ-साथ इनका भी द्वार-देवता, (द्वारपाल नहीं) के रूप में स्थान पाया जाता है। पीछे गंगा को सुखदा, मोक्षदा मानकर समस्त लोग उनकी पृथक् पूजा करने लगे जिससे मध्यकाल में गंगा की स्वतन्त्र मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं। पौराणिक वार्ता तथा कुछ शिल्प-ग्रन्थों के आधार पर गंगा को शिव की जटा में स्थान दिया जाने लगा, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

मुसलमानों के पहले की राजपूत-चित्रणकला

श्री काशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि

राजपूत-कलम की चितेरी विद्या का बखान सब करते और सराहते हैं। राजपूत-कलम चित्रकारी के उस सम्प्रदाय को कहते हैं जिसके उस्ताद प्रायः हिन्दू चितेरे मुसलमानी समय में हुए। अकबर के पहले की चितेरी के नमूने कम हैं। लम्बी नाक और विकट कटाव गढ़न वाले रूपदर्शी चित्र कुछ जैन ग्रन्थों में मिले हैं; पर वे भी कबीर साहब के युग के पहले के नहीं हैं। अजन्ता-पहाड़ के गुहा-मन्दिर के बाद और मिस्टर मेहता की जैन तस्वीरों के पहले के चित्र अभी तक नहीं मिले थे। इस लेख में दिखलाया जायगा कि हिन्दुओं की चित्र-विद्या

विक्रम-संवत् की बारहवीं शदी में जीवित थी। जो उदाहरण हमें मिले हैं वे ठीक मुसलमानो राज्य जमने के पहले के हैं। उनके उरेहने वाले, राजपूत-राजाओं के कारीगर थे। ये मालवा के रहने वाले रहे होंगे; क्योंकि महाराज भोज के और उनके वंश वालों के ये आश्रित थे।

महाराज भोजदेव—जिनका विद्या-प्रेम और पाण्डित्य घर-घर कहानियों में प्रसिद्ध है, और कहते हैं कि "कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली" (अर्थात् गांगेय और तैलप राजा) महमूद के आक्रमण के समय वर्त्तमान थे। अलबिरूनी ने, जो महमूद के साथ आया था, भोज की सभा का वर्णन किया है और लिखा है कि स्त्रियों का उनके यहाँ आदर था। भोज के यहाँ कई महिलाकवि थीं, यह काव्य के ग्रन्थों से जाना जाता है। भोज ने "भोजपाल" नामक—जिसे अब "भोपाल" कहते हैं—एक बहुत ही बड़ा समुद्र-सा तालाब पहाड़ों को बाँध कर बनाया। भोज की लड़ाई उनके समय के राजाओं से थी। उनमें से कुछ दक्षिण वाले थे और कुछ गुजरात आदि के। भोज का शिव-मन्दिर, जो अभी तक "भोपाल-ताल" पर अधूरा पड़ा हुआ है, इस लड़ाई-झगड़े में अधूरा रह गया। भोजदेव मारे गये।

इसका बदला उनके भतीजे महाराज उदयादित्य ने चुकाया। शत्रुओं को हराया और मालवा का राज्य फिर चमकाया। एक बहुत ही सुन्दर लाल पत्थर का शिखर-मन्दिर इन्होंने मालवा में बनाया। जो आज तक उनके बसाए छोटे शहर "उदयपुर" में (रियासत ग्वालियर में भिलसा के पास) वर्त्तमान है। उसका शान का कोई भी मन्दिर आर्यावर्त्त में नहीं है। उसमें उदयेश्वर महादेव हैं। उसीमें उन्होंने भोजराज की कीर्ति-प्रशस्ति संस्कृत श्लोकों में खुदवा दी है।

इन्हीं उदयादित्य ने दक्षिण वालों को परास्त किया और अर्बली पहाड़ (अर्बुदाचल) तक अपना राज्य फिर से स्थापित किया। मेरी समझ में इसी विजय की यादगार में कुछ चित्र इन्होंने इलौरा के गुफा-मन्दिरों में बनवाए, जिनमें राजा के चित्र के ऊपर "प्रमार" लिखा हुआ है। "प्रमार" अथवा "परमार" इनके वंश का नाम था। ये चित्र

युद्ध के हैं। सब राजपूत सिपाहियों की बड़ी-बड़ी मूँछें और ऊपर चढ़ी हुई दाढ़ी है। इससे सिद्ध होता है कि क्षत्रियों में दाढ़ी रखने की प्रथा पुरानी है, और मुसलमानों के पहले की है। चित्रों में सिपाही कच्छी घोड़ों पर हैं, और पैदल भी हैं। सब लाम बाँध कर आज-कल की पलटन की तरह, वरन् यों कहिए कि जर्मन पलटन की तरह, एक साथ लम्बी कदम उठाये हुए चल रहे हैं। जब शत्रु-सेना (जो बिना दाढ़ी की है) हार जाती है, हाथ उठाकर लड़ाई बन्द करने कहती है। प्रमार राजा, जो पहले हाथी पर लड़ रहा था, पालकी पर आता है, सामने उसके कुछ योद्धा लाम बाँधकर चलते हैं और एक ओर पलटन खड़ी है तथा स्त्रियाँ मंगल लिए रास्ते में खड़ी हैं। पराजित शत्रुराज का भी चित्र है।

ये चित्र रंगीन हैं। इनकी शैली अजंता और राजपूत-मुग़लशैली के बीच की मानों कड़ी है। देखिए Annual Report of the Archaeological Department of His Exalted Highness the Nizam's Dominion 1337 F (1927-28 A. C.), Plates D. E (इस पर नागरी में लिखा है 'स्वस्ती स्त्रि प्रमारराज'), F.। लिखने वाला साधारण अधपढ़ा चितेरा था; क्योंकि "स्वस्ति" को "स्वस्ती" और "श्री" को 'स्त्रि" लिखता है। रंग गेरुआ, नीला, काला, हरा, आदि हैं। अक्षरों की लिखावट प्रमार राजा भोज और उदयादित्य के समय की है जिनके बहुत लेख और ताम्रपत्र मिले हैं। पिछले राजपूत चितेरों की कारीगरी में भाव नहीं, भाव की शून्यता है। पर इलोरा के चित्रों में भाव का अभाव नहीं, वे भाव भरे हैं। हारा हुआ राजा घबराया हुआ है। योधा लड़ने के समय प्रचण्ड हैं, घोड़े मानों उड़ा चाहते हैं, हाथी और मनुष्य युद्ध में संलग्न हैं।

पर जब चितेरी मुग़ल बादशाही में पहुँचती है तब बिचारी चुप हो जाती है। मूरत की तरह सीधे खड़े रहती है। हर जगह मानों उसको हँसने-बोलने की शाही मुमानियत है।

इलोरा-चित्रों के राजपूत दीर्घकाय चेहरे-मुहरे वाले हैं। घोड़े इनके बहुत अच्छी जाति के हैं। एक तरह का जिरहबख्तर सब योद्धा पहने हुए हैं। ढाल इनकी गोल है।

ये चित्र हिन्दी-काल के आदि-समय के हैं। श्री पण्डित द्विवेदीजी के चिर-साहित्य-सेनापतित्व के उपलक्ष में मैं जो उनका एक सिपाही हूँ, यही भेंट अपने हिन्दी-भाइयों को करता हूँ। पण्डितजी हमारे साहित्य-क्षेत्र के उदयादित्य हैं।

हिन्दू चित्रकला

(श्रीयुत नानालाल चमनलाल मेहता, आई० सी० एस०)

मुगल शासन भारतीय सभ्यता के इतिहास का एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस काल में पुरानी परम्पराओं का जीर्णोद्धार एवं परिष्कार हुआ। फिर भी लोक जीवन से शाही कला भिन्न रही। औरंगजेब की मृत्यु के बाद शाही चित्रकारों की दशा गिर गई और उन्होंने प्रान्तीय दरबारों में आश्रय ढूँढ़ा। इन चित्रकारों ने हिन्दू चित्रकला की परम्परा को फिर से सजीव किया। जो मुसव्वर अभी तक आखेट के, राज दरबारों के, शाही तमाशों के दृश्यों का आलेखन करते रहे, उन्होंने श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत, नल-दमयन्ती आख्यान, मंझन कृत (१५०९—१५३८) मधु मालती, सुन्दर शृङ्गार, बिहारी सतसई, मतिराम का रसराज, केशव की रसिक प्रिया, जयदेव का गीत गोविन्द, देवी माहात्म्य, हमीर हठ इत्यादि अनेक लोकप्रिय ग्रन्थों के चित्रित अनुवाद किये। इस कला में लोक जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब था। चित्रकारों ने एक तरह से अपने ही जीवन के भाव कला द्वारा व्यक्त किये। इस कला का ध्येय और उसकी प्रणाली मुगल कला से निराली थी। मुगल दरबार

प्रान्तीय कला

के प्रचुर साधन, एवं ऐश्वर्य छोटे-छोटे दरबारों में उपलब्ध नहीं थे। वसलीगर, नक़्शनवीस, ख़ुशनवीस आदि अन्यान्य व्यक्तियों के लिए इस प्रान्तीय कला में बहुत स्थान नहीं था। इसी कारण यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के मध्य तक की कला बाह्याडम्बर से एक प्रकार से विमुक्त-सी रही। इस कला की परम्परा १६ वीं शताब्दी के अन्त से तो बराबर मिलती है। इस समय के चित्र अधिकतर रागमालाओं के मिलते हैं। कुछ चित्र १७ वीं शताब्दी के भी प्राप्त हुए हैं। किन्तु हिन्दू चित्रकला का पूरा विकास तो १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। इस चित्रकला का नाम डा० आनन्दकुमार स्वामी ने पहले पहल राजपूत कला रक्खा था। इसी नाम से आज भी राजपूताने के, बुन्देलखण्ड के, पञ्जाब के, एवं काश्मीर के चित्र जाने जाते हैं। यह नाम एक तरह से उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन सब प्रान्तीय कलाओं में अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, और फिर केवल राजपूत राजाओं के आश्रय के कारण इस कला का नाम राजपूत कला रखना भी उचित नहीं है। यह तो सर्वमान्य बात है कि यह कला प्राचीन हिन्दू कला की परम्परा के अनुसार रही। इस कारण मेरा मत तो यह है कि इस कला को हिन्दू-कला के नाम से ही सम्बोधित करना चाहिये। हिन्दू प्रणाली के इतिहास में मुग़ल कला एक पृथक प्रकरण रूप ही रही और उसको मुग़ल कला के नाम से सम्बोधित करना यथार्थ है। 'हिन्दू' शब्द के मुक़ाबले में मुसलिम शब्द का व्यवहार बिलकुल ही असङ्गत है, क्योंकि मुसलिम संस्कृति कोई स्वतन्त्र अथवा पूर्णतया विदेशी वस्तु नहीं थी, वरन् हिन्दू संस्कृति का एक दूसरा स्वरूप वा रूपान्तर मात्र थी। जैसे-जैसे कुशान शिल्प भारतीय शिल्प का अविच्छिन्न अङ्ग है, वैसे ही मुग़लकालीन आलेखन भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक अपरिहार्य प्रकरण है। भारतीय सभ्यता की पाचनशक्ति आरम्भ से ही कुछ अनोखी रही। इसी कारण नई सभ्यताओं का विशिष्ट असर चिरस्थायी नहीं रहा। देश-काल के अनुसार जो अंश ग्राह्य थे वे

हिन्दू कला

भारतीय सभ्यता में घुल-मिल गये। जैसे मौर्य शिल्प से, गान्धार कला के असर होते हुए भी, कुशान शिल्प का क्रमानुक्रम सम्बन्ध है, वैसे ही ईरानी उस्तादों के मौजूद रहते भी मुग़ल काल में भी भारतीय चित्रकला की शृङ्खला टूटी नहीं। अकबर के ही काल में २५ वर्षों के ही भीतर मुग़ल काल की शाही कला की विजातीयता मिटकर भारतीय बन गई। मुग़ल काल के मुसव्वरों में तीन चौथाई कलाकार हिन्दू जाति के थे। मुग़लकला का विशेष स्थान उसकी विशेषताओं पर, उसके रंग विधान पर, उसके ऐतिहासिक महत्त्व पर, और उसके संकुचित विषय-क्षेत्र पर अवलम्बित है। इन्हीं कारणों से मुग़लचित्र हिन्दूचित्र से कुछ अलग पड़ता है और थोड़े ही अनुभव के बाद एक को दूसरे को पहचानने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती।

मुग़ल चित्रकारों ने जब रागमालाओं के चित्र बनाए तब भी उनमें वह कामलता और मार्दव नहीं आया, जो ठेठ हिन्दूचित्रों में पाया जाता है। इसका कारण यह नहीं था कि चित्रकार के मानस में कुछ विभिन्नता थी। बात केवल यह थी कि जमाने का तर्ज़ ही कुछ दूसरा था। जैसे एक ही गायक ध्रुपद और ख़याल दोनों गाता है, परन्तु रुचि के अनुसार किसी एक प्रणाली में पारङ्गत होता है, वैसे ही मुग़ल चित्रकारों ने प्रतिबिम्ब चित्र बनाने में अद्भुत नैपुण्य प्राप्त किया। अपने संकुचित क्षेत्र में उन्होंने अद्वितीय काम दिखाया। फिर भी ये सब चित्रकार आख़िर भारतीय सभ्यता के रंग में रँगे हुए थे। ईरान के सुन्दर वर्ण-वैचित्र्य से मुग्ध हुए बादशाहों को ख़ुश करने के लिए बहुत ही मनोरम रंगीन चित्र मुग़ल काल में बने। परन्तु आसन, मुद्रा, भाव इन सभी विषयों में पुराने शिल्प-शास्त्रों के असर का प्राधान्य रहा। चित्र सूत्रकार ने सबीह के लिए नौ प्रकार के 'स्थानों' का वर्णन किया है—

हिन्दूकला के लक्षण

(१) ऋज्वागत।

(२) अनृजु।

(३) साचीकृत शरीर

(४) अर्द्ध विलोचन।
(५) पार्श्वागत।
(६) परावृत्त।
(७) पृष्ठागत।
(८) परिवृत्त।
(९) समानत।

'चित्रसूत्र' की भाँति 'शिल्प रत्न' में भी श्रीकुमार ने नौ ही स्थानों का वर्णन किया है। भारतीय चित्रों में प्रायः 'अर्द्ध विलोचन' अथवा 'एक चशम' तसवीर ही मिलती है। और इसी आसन में शरीर का तीन चौथाई हिस्सा चित्रकार दिखा सकता है। प्राचीन परिपाटी का यह एक नियम था कि व्यक्तियों के शरीर का अधिक से अधिक हिस्सा यथासम्भव दिखाना चाहिये। इसी कारण सम्मुख-चित्र बहुत कम और प्रायः नीरस से मिलते हैं। सम्मुख चित्रों में केवल आधा ही शरीर प्रेक्षक देख सकता है। 'डेढ़ चश्म' तसवीर जिसे अंग्रेजी में 'थ्री कार्टरस प्रोफ़ील' कहते हैं, उसका भी काफ़ी प्रचार रहा। परन्तु अकबर और जहाँगीर के समय के बाद एक चश्म तसवीरों का ही ज्यादा रिवाज देखने में आता है। इवान शुकिन ने बहुत अच्छी तरह से सिद्ध किया है कि मुग़ल एवं हिन्दू चित्रकला पुराने शिल्प-शास्त्रों के नियमों से ओत-प्रोत है, अर्थात् मुग़ल और हिन्दू काल की विभिन्नताएँ युग धर्म की विशेष परिस्थिति की ही द्योतक हैं। आदर्शों अथवा उद्देश्यों का भेद नहीं था। केवल मुग़ल बादशाहों का रिझान सांसारिक विलास-वस्तुओं, आमोद-प्रमोद के साधनों की तरफ़ अधिक था पर प्रान्तीय हिन्दू राजाओं का दृष्टिकोण दूसरा था। समकालीन साहित्य से उनके जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध था। इस कारण हिन्दूकला के विषय प्राचीन सभ्यता के रँग में रंगे हुए हैं। पुराने भित्ति चित्रों का प्रबल असर इन चित्रों में दिखाई पड़ता है। अनोखा रंग-विधान इनकी खास विशेषता नहीं। इनका प्रधान गुण तो इनकी बहुत ही अनोखी भाववाही रेखाओं में है। चित्र का विषय कुछ भी हो, फिर भी इन

चित्रों के पात्र चित्रकारों को बचपन से परिचित थे। इसी कारण इन चित्रों में एक अजीब कोमलता और सुकुमारता पाई जाती है। जैसे ग्राम्य-गीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए भी, भाव की शुद्ध सरलता मिलती है, वैसे ही साधारण कोटि के भी हिन्दूचित्रों में एक क़िस्म की सचाई और सात्विकता नज़र आती है। इन चित्रों की ख़ास .खूबी इनके अव्यक्त अर्थ में, इनकी गहरी भावव्यञ्जना में और इनके व्यंग्य में है। किस प्रकार ध्रुपद की रचना एक ही ठाठ पर हुआ करती है उसी तरह एक ही भाव को लेकर हिन्दूचित्रों का आलेखन किया जाता है। जब कृष्ण की बाँसुरी बजती है तब जल, थल सभी मुग्ध होकर उसमें लीन हो जाते हैं। तमाम सृष्टि का रंग मंच एक ही भाव से आप्लुत रहता है। इन चित्रों का प्रधान रस शृङ्गार है। शृङ्गार ही तो वाणी और सौन्दर्य का सार है।

सवया

देव सबै सुखदायक सम्पति सम्पति दम्पति दम्पति जोरी।
दम्पति सोई जो प्रेम प्रतीति प्रतीति की रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति महागुन गीत विचार विचार कि बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार सिगार को सार किसोर किसोरी॥

और शृङ्गार में भी 'किशोर-किशोरी' की प्रेम लीलाओं का प्राधान्य है। राधाकृष्ण केवल देव युगल नहीं, वरन् जन-समाज की गहरी भावनाओं के, प्रेरणाओं के, प्रतिबिम्ब रूप आदर्श व्यक्ति हैं। आदर्श प्रेम की चरम परिणति इसी पुराण-कल्पित युगल मूर्ति में कवियों ने एवं चित्रकारों ने पाई है—

सवैया

स्याम सरूप घटा ज्यों अनूपम नील पटा तन राधे के झूमै।
राधे के अंग के रंग रँग्यौ पट बीजुरी ज्यों घन सो तन झूमै॥

है प्रति मूरति दोउ दुहू की मिथो प्रतिबिम्ब बसो घट दूमें।
एकहि देह दुदेव दुदेहरे देह दुधाय देव दुहू मै॥

(देवकृत प्रेमचन्द्रिका)

हिन्दी साहित्य का पूरा जोड़ इस समय की हिन्दू-कला में मिलता है। बल्कि यह कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी कि इस समय के चित्र चित्रित-साहित्य के अजब नमूने हैं। ये भी साहित्य के ही नमूने हैं, ये भी साहित्य के ही अंग हैं। केवल साधन निराले हैं। इन चितेरों को मुग़ल मुसव्वरों की भाँति शबीहों से विशेष अनुराग नहीं था। इनकी जो शबीहें मिलती हैं वह सादृश्य-चित्र नहीं हैं, प्रजा के आदर्श व्यक्तियों के एक क़िस्म के ख़ाके हैं। उनमें परिचित लक्षणों का सूचन है। व्यक्ति विशेषों का चित्रण नहीं है। पंजाब, राजस्थान एवं अनेक प्रान्तीय केन्द्रों में बनी हुई इस काल की तसवीरें बतौर शबीह, मुग़ल चित्रों की कोटि की नहीं हैं। इस क्षेत्र में तो मुग़ल चित्रकार हिन्दुस्तान की एवं एशिया की तवारीख़ में अद्वितीय हैं।

आकार और रचना के दृष्टिकोण से मुग़ल और हिन्दू कला में कोई भेद नहीं है, बल्कि इवान शुकिन ने बहुत अच्छी तरह से उदाहरण द्वारा दिखाया है कि मध्यकालीन कल्प सूत्रों में प्राप्त श्री महावीर स्वामी के केशलुञ्चन की तस्वीर पंजाब की कृष्णलीला की तसवीरों से रेखा विधान में मिलती है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि मुग़ल एवं तत्पश्चात् हिन्दू काल में प्राचीन परंपरा से विभिन्न कोई कारीगरी उत्पन्न नहीं हुई।

रागमाला और ऋतु-चित्र

मुग़ल काल में चित्रकारों ने एक नवीन शैली धारण की। नायक, नायिका के चित्र तो बनते ही थे। भरत-नाट्यशास्त्र के ज़माने से अलङ्कार शास्त्रों के ग्रन्थ नायक और नायिका के भेदों के विवेचन से भरे हुए हैं। अमरुशतक जैसे सुन्दर काव्य भी नायक-नायिका के दृष्टांत-रूप

बने हैं। इस प्रणाली का एक दूसरा रूप रागमाला और बारामासा के चित्रों में दिखाई पड़ता है, क्योंकि रागों का ध्यान किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में नहीं मिलता। भरत के नाट्यशास्त्र में स्वरों के वर्ण और उनके अधिदेवताओं का वर्णन है। और यह भी बताया गया है कि किस रस में किस स्वर को उपयुक्त करना चाहिये।

वर्ण— श्यामो भवेत्तु शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रौद्रः रक्तो प्रकीर्तितिः ॥ ४२ ॥
गौरो वीरस्त विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ४३ ॥

अधिदेवता—शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदेवतः ॥ ४४ ॥
वीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेंद्रदेवः स्याददद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥ ४५ ॥

(अध्याय ६)

किस रस में किस स्वर को उपयुक्त करना चाहिये इसके विषय में लिखा है—

हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरो मध्यम पंचमौ।
षडजर्षभौ तथा चैव वीर रौद्राद्भुतेषु तु ॥ ३८ ॥
गंधारश्च निपादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे।
धैवतश्चैव कर्तव्यो वीभत्से सभयानके ॥ ३९ ॥

—भरत नाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, (अध्याय १९)

इसी तरह का वर्णन शार्ङ्गदेव के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' में मिलता है।

श्यामः सितो धूसरश्च रक्तो गौरोऽसितस्तथा ॥
नीलः पीतस्ततः श्वेतो रसवर्णाः क्रमादि मे ॥ १३८७ ॥

विष्णुमन्मथकीनाशरुद्रेन्द्राः कालसंज्ञकः ।
महाकालः क्रमाद्ब्रह्मा बुद्धश्च रसदेवताः ॥
शृङ्गारे देवतामाहुरपरेमकरध्वजम् ॥ १३८८ ॥

(अध्याय ७)

नृत्य और चित्रकला का घनिष्ट सम्बन्ध तो पुराने कलाकोविदों को मालूम ही था। आन्तरिक उल्लास. भाव और आवेश की तालबद्ध गति से—पादांगुलि विन्यास से व्यक्त करना तो नृत्य है। चित्रकला का भी उद्देश्य बहुत भिन्न नहीं था। साधन भेद अवश्य है। नृत्य के मानो स्तम्भित क्षणों का आलेख नहीं हिन्दू चित्रकला का परमोत्कृष्ट विषय है। शार्ङ्गदेव ने भी एक जगह लिखा है कि—

कलासे वाद्यघातं च कुर्यः साम्येन वादकः ।
कलासेषु भवेत्पात्र लीनं चित्रार्पितं यथा ॥

जिल्द २, पृष्ठ ८०५, श्लोक० १३०३

कहते हैं कि वाद्यारम्भ होते ही नट को चित्रांकित-सा लीन हो जाना चाहिये। यह विचारणीय बात है कि अभी तक रागमाला और बारामासा के चित्र अकबर के काल से पहले के प्राप्त नहीं हुए। सम्भव है कि इसी समय में इन चित्रों का जन्म हुआ हो। यह समय हिन्दुस्तान की संस्कृति के लिए बड़े महत्त्व का था। मुग़ल शानोशौक़त के साथ भारतीय संस्कृति भी खिल उठी। साहित्य, स्थापत्य और जनसाधारण का जीवन, सभी कुछ पल्लवित हुआ। हिन्दी साहित्य के लिए तो यह स्वर्णयुग था। फिर क्या आश्चर्य है जो ऐसे ज़माने में रागमालाओं और बारामासों का कविता और चित्र-द्वारा वर्णन हुआ? सबसे प्राचीन चित्र मैंने आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध पुस्तकालय बॉडलियन लाइब्रेरी में देखे। मुग़ल चित्रकला का सबसे प्राचीन मुरक्का (अलबम पुस्तिका) आर्कबिशप लॉड का ई० सन् १६४० का भेट किया हुआ है। ३०० वर्ष तक इस पुस्तिका के चित्र कलाविदों को

प्रायः अपरिचित रहे। बल्कि जब मैं बॉडलियन पुस्तकालय में गया तब क्यूरेटर पॅरी महोदय ने पुस्तिका देते हुए मुझसे कहा कि इसके चित्र कुछ महत्त्व के नहीं। जब मैंने चित्रा के पन्ने फेरे तब तुरन्त ही मालूम हुआ कि सबसे पुरानी रागमाला के चित्र यहाँ विद्यमान है। नीचे लिखे रागों के चित्र इस पुस्तिका में बने हैं।

रागिनी गुनकली, विहाग, मालकोश, मल्हार, कान्हरा, भैरव. आसावरी, धनाश्री, हिंडोल. बरारी, भैरवी, देवकली, विलावल, बसंत-पंचम, श्यामगुर्जरी, नट। ये सभी चित्र मध्यकालीन गुर्जर अथवा जैन चित्रों से मिलते-जुलते हैं। फ़ारसी शैली का ज़रा भी असर नहीं। रागों के नाम की फ़ारसी लिपि में लिखी हुई चिटें कोनों पर चिपकी हुई हैं। रागों के ध्यान भी अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के रागों के ध्यान से कुछ भिन्न हैं। मल्हार राग के ध्यानों के चित्र में तत्कालीन जामा पहने, मुकुट लटकाए. ढोलक के ताल पर नाचता हुआ आदमी दिखाया है। हिंडोल राग का ध्यान सर्वपरिचित है। कृष्ण और गोपी झूले में झूल रहे हैं।

सबसे अच्छा चित्र रागनी गुर्जरी का है।

आर्क बिशप की पुस्तिका ई० सं० १६४० से बॉडलियन पुस्तकालय में है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये चित्र १६ वीं शताब्दी के अन्त तक के बने होंगे। इसके पहिले के चित्र अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। डा० आनन्दकुमार स्वामी ने कुछ रागमाला के चित्र प्रकाशित किए हैं जिन पर गुजराती कवित्त लिखे हैं। ऐसे ही चित्र भारत-कला-भवन के भण्डार में भी हैं। लॉड पुस्तिका के चित्र और डा० आनन्द-कुमार स्वामी के प्रकाशित किए चित्रों का मध्यकालीन गुर्जर जैन कला के साथ साम्य देखकर मेरा यह अनुमान यह है कि इन चित्रों की उत्पत्ति गुजरात में प्राचीन लाट देश में हुई हो। क्योंकि १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध तिब्बती लेखक तारानाथ ने हिन्दुस्तान के प्राचीन पाश्चात्य

चित्रकारों की आश्चर्यजनक कृतियों का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है। छठी शताब्दी के प्रख्यात तामिल पद्य ग्रन्थ 'मणिमेखलई' में भी वर्धमानपुरी के प्रसिद्ध शिल्पकारों का उल्लेख पाया जाता है। यह वर्धमान-पुरी आधुनिक बढ़वाण (काठियावाड़) है। १० वीं शताब्दी के सोमदेव के रस-प्रद ग्रन्थ 'कथा सरित्सागर' में भी गुर्जर शिल्पकारों का कई जगह उल्लेख मिलता है। लाट, मालव और राजस्थान इन तीनों ही प्रदेशों का पुराने समय में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और इन प्रदेशों में चित्रकला और संगीत का बड़ा उत्कर्ष हुआ। 'कथा-सरित्सागर' के लेखक ने उल्लेख किया है कि उज्जैन के राज-प्रासादों की दीवारों पर पूरे रामचरित के चित्र खींचे गये थे। (१६ वाँ तरंग, लावणक लंबक) 'संगीत रत्नाकर' के भी निम्नलिखित श्लोक बहुत महत्त्व के हैं: —

नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः ॥
ततश्च भरतः सार्धं गन्धर्वाप्सर सांगणैः ॥
नाट्य नृत्यं तथा नृत्तमग्रे शम्भोः प्रयुक्तवान् ॥ ४ ॥
प्रयोग मुद्धतं स्मृत्वा स्वप्रयुक्तं ततो हरः ॥
ताण्डुना स्वगणाग्रण्या भरतायन्यदीदिशत् ॥ ५ ॥
लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदिशत् ॥
बुध्याथ ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयो अवदन् ॥ ६ ॥
पारवतीत्यनुशास्ती स्म लास्यं बानात्मजा मुषाम् ॥
तया द्वारवतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्र पौषितः ॥ ७ ॥
ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नानाजनपदास्पदाः ॥
एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितिम् ॥ ८ ॥

(पृष्ठ ६२४)

पार्वती ने बाण की कन्या और अनुरुद्ध-पत्नी उषा को लास्य सिखाया ('लास्यं तु सुकुमाराङ्गमकरध्वजवर्धनम्'। श्लो० ३०) उषा से द्वारका की गोपियों ने ये सुन्दर नृत्य-प्रयोग सीखे और उन्होंने भारत के नाना प्रदेश की स्त्रियों को सिखाया।

मुग़ल कला में माण्डू के सुलतान बाजबहादुर और उसकी प्रियतमा रूपमती नाम्नी वारांगना के चित्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि बाजबहादुर बड़ा ही संगीत-निपुण और ध्रुपद का बड़ा प्रसिद्ध गायक था और उसके दरबार में गुजरात के कई प्रसिद्ध गायक थे। अबुलफ़ज़ल के अकबरनामे में भी गुजराती गायकों और चित्रकारों के अनेक नाम मिलते हैं और सभी नामों के आगे गुजराती शब्द लिखा है; जैसे—केशव गुजराती, सूर गुजराती, माधो-गुजराती। गुजरात की स्वाधीनता के नाश होते ही इस भारतीयकला के केन्द्र का भी ह्रास हुआ। उसकी विभूतियों का वास मुग़ल दरबार में जाकर हुआ। अधिक अन्वेषण करने से मेरी धारणा है कि काठियावाड़ के कई राज्यों में पुराने रागमाला के चित्र मिलेंगे।

रागमाला के अधिकतर चित्र प्रायः १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में मिलते हैं। उनके ध्यान का वर्णन अधिकतर हिन्दी छन्दों में दिया गया है। रामपुर के नवाब साहब के पुस्तकालय में एक रागमाला है, जिसका वर्णन फार्सी शेरों में किया हुआ है। कई रागमालाएँ पंजाब से भी प्राप्त हुई हैं, इनमें एक विशेष बात यह है कि कई रागों के नाम ऐसे हैं जो आधुनिक संगीत शास्त्र के लिए बिलकुल नए हैं। रागमाला के चित्रों का ख़ास शौक़ राजस्थान के और बुन्देलखण्ड के राजाओं को रहा। सहस्रों की संख्या मे ये चित्र बनाए गए। साधारणतः रागों के चित्र थोड़े ही होते हैं। अधिकतर चित्र एक तरह से नायक-नायिका भेद के ही चित्र समझना चाहिए। जैसे देव ने अष्टयाम में हर राग के लिए एक-एक 'याम' निश्चित किया, वैसे ही चित्रकारों ने भी छत्तीसों राग-रागनियों के चित्र बनाए। किन्तु मल्हार राग के चित्र और वर्षाऋतु के चित्रों में कोई ख़ास अन्तर नहीं पाया जाता, क्योंकि राग और ऋतु का भी इसमें पहले से ही कार्य-कारण सम्बन्ध है। प्रत्येक राग और रागनी के लिए समय और ऋतु निश्चित है। इसी कारण रागमाला के और ऋतु के चित्रों में स्वाभाविक सम्बन्ध चला आता है।

यूरोपीय कला में भी—खासकर फ़्लोरेंस की १५ वीं शताब्दी, की कला में—ऋतु-चित्र पाए जाते हैं। किन्तु इन ऋतु-चित्रों और हमारे ऋतु-चित्रों में बड़ा भारी अन्तर है। ऋतु-चित्रों में यूरोपीय चित्रकार ऋतु के विशेष गुणों का आलेखन करता है। शीत-काल के चित्र में अंगीठी के पास तापते हुए लोग दिखलाए गये हैं। हमारे यहाँ ऋतु-चित्रों में कालिदास 'ऋतु-संहार' का अनुसरण करके ऋतुओं के उपयुक्त प्रेम-लीलाओं का ही सिर्फ़ आलेखन है। आसावरी, टोड़ी, दीपक, हिंडोल, भैरवी ककुभ, मधु-माधवी ऐसे पाँच-सात रागों को छोड़कर के बाक़ी रागमाला के चित्रों म कल्पना या रचना की कोई खास विशेषता नहीं पाई जाती। किंतु टोड़ी, आसावरी, ककुभ की तसवीरों में संगीत, आलेखन और कविता का बड़ा ही सुन्दर समन्वय किया हुआ है। संगीत से जिस कल्पना-सृष्टि का निर्माण होता है उसी का आलेखन करने का चित्रकार का यह मौलिक प्रयास है। सुगमता के लिए चित्रों पर चित्र के लक्षण कविता द्वारा भी प्रकट किए जाते हैं। ऋतु-चित्रों में फाल्गुन, श्रावण और भाद्रपद के चित्रों का विधान सुन्दर पाया जाता है। किन्तु साधारणतः कला-दृष्टि से इन चित्रों में कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता।

देव के 'राग रत्नाकर' में हर राग की ६ भार्या बताई गई हैं, जिनमें से एक नायिका विरहिणी भी है। जैसे भैरव की रागिनी धनाश्री और मेघ की रागिनी टंक—ये सभी विरहिणी नायिकाएँ हैं। इन सबों का वर्णन देव के 'राग रत्नाकर' के सुन्दर पद्य में मौजूद है। हिन्दी कवियों ने छओं ऋतुओं के उपयुक्त प्रेम-लीला का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया है। देव ने तो इससे भी आगे बढ़कर दिन के आठों प्रहरों के उपयुक्त प्रेम-क्रीड़ाओं का विधान किया है। कभी-कभी तो रागों की समय-सूची में औचित्य और अनौचित्य का ज़रा भी ख्याल किया गया नहीं मालूम होता। उदाहरणतः दीपक गाने का समय ग्रीष्मऋतु में दोपहर में है, और वह भी जलते हुए प्रदीपों के बीच में! 'राग रत्नाकर' मेंदीपक का इस तरह से वर्णन है—

दोहा।

पुरुष प्रात सूरज बरन, सूरज सूनु सुभाग।
ग्रीषम ऋतु मध्यान्ह में, दीपत दीपक राग॥

सवैया।

सूरज के उदै तूरजराव चढ्यौ गजराज प्रभा परिबेख्यो।
दूसरो सूर ज्यों सूरज जोति किरीट त्यों सूरज भूषन भेख्यो॥
कामिनी संग सुरंग मैं प्योधनी ग्रीषम ग्रोस मध्यान बिसेख्यो।
दीपन दीप ज्यों दीपति दीपक, राग महीपति दीपक देख्यो॥

इसी विधान के अनुसार तानसेन ने जो दीपक सचमुच ही गाया हो और उसको जलन पैदा हुई हो तो इसमें आश्चर्य नहीं। स्मरण इतना रखना चाहिए कि उस जलन को संगीत के चमत्कार के बजाय ऋतु के प्रभाव और दीपों के असर से पैदा होने की अधिक सम्भावना है।

जैनों ने भी अपने अलग रागमाला के गीत बनाए जैसे वैष्णव साहित्य के, सङ्गीत के और सभ्यता के अधिनायक कृष्णचन्द्र और राधिका हैं वैसे ही जैन प्रेम-कथाओं के अधिदेवता नेमिनाथ और उनकी सहचरी राजीमती हैं। जैनों ने ऋतु-गीत भी अपने अलग बनाए। और उनमें स्थूली-भद्र और उनकी कोषा नायिका के प्रेमगीत गाये। ये स्थूली-भद्र नवम नन्द सम्राट् के अमात्य पुत्र थे। हमारे प्राचीन लेखकों की कुछ ऐसी धारणा रही होगी कि यौवन-काल में विलासमय जीवन बिताने से सन्त पद अथवा अर्हत्व शीघ्रतर और सुलभ होता है।

इन ऋतु-गीतों की एक विशेषता यह है कि पति-वियोग से पत्नी को ही अधिक दुःख अनुभव होता है। हमारे प्रेम-काव्य की अधिदेवी नायिका ही होती है। इसका प्रधान कारण सम्भवतः यही है कि कविताकार स्त्रियाँ नहीं थीं वरन् पुरुष थे। अथवा चारित्र्य-दोष

नायिकाओं की अपेक्षा लेखकों में ज्यादा था। लेखकों ने स्त्री को ही प्रेम-प्रतीक बनाकर सदियों तक कविता लिखीं। ११ वीं और १२ वीं शताब्दी में ये ऋतु-गीत बंगाल, गुजरात और राजस्थान में प्रचलित थे। किन्तु राजस्थान के गीतों में प्रेम का वर्णन नहीं था। उनका सम्बन्ध ऋतु-वर्णन से और शूरवीरता के प्रसङ्गों से था, और भाषा भी जानदार डिंगल थी, जिसके द्वारा चारणों ने अनेक वीरों को प्रोत्साहित किया।

बंगाल और गुजराती ऋतु-गीत कृष्ण और राधा को सम्बोधित करके ही बने हैं, परन्तु हिन्दी साहित्य में राम और सीता को निर्देश करके कई सुन्दर और करुण लोक-गीत बने हुए हैं। उनके कुछ उदाहरण पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' के पाँचवें भाग में दिए गए हैं। बुन्देलखण्ड में भी राम और सीता को लेकर अनेक सुन्दर ऋतु-गीत प्रचलित हैं। हिन्दी साहित्य की यह विशेषता संभवतः तुलसी रामायण की आभारी है। रामकथा का सबसे अधिक प्रचार तो जनता में तुलसी रामायण ने ही किया है।

जैनों के रागगीत और ऋतु-गीत तो बहुत मिलते हैं किन्तु अभी तक जैन शैली के अथवा जैन विषयों के आधार भूतरागमाला और ऋतु-गीत तो बहुत मिलते हैं किन्तु अभी तक जैन शैली के अथवा जैन विषयों के आधारभूत रागमाला और ऋतु-गीतों के चित्र उपलब्ध नहीं हुए। जैन श्रेष्ठियों ने ज्यादातर धार्मिक ग्रन्थों के ही चित्र बनवाए। चित्रित 'कल्पसूत्र' और 'कालकाचार्य—कथानक' के जोड़ के और कोई जैन-ग्रन्थ-भंडारों में अभी तक प्राप्त नहीं हुए। रागमालाओं के बहुत ही सुन्दर चित्र, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हैं, और शायद १९ वीं शताब्दी के आरम्भ के बने हैं। मैंने ब्रिटिश म्यूजियम की पुस्तिका नं० OR 57b/21934 में देखे हैं। कुछ चित्रों पर 'अमल शीतलदास', (शीतलदास की कलम से बने); कुछ पर 'अमल गिरधारीलाल' और कुछ पर 'अमल बहादुरसिंह' लिखा है। इन चित्रों पर कई सुन्दर कवित्त लिखे हैं जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं :—

मणिन जटित तन भूषण विराजमान,
वसन विचित्रवर पैन्हें चुनि चारु हैं।
नाचत नवीन गति भेद जे संगीतन के,
सुघर हिय आनन्द अपार है ॥
गोरी मन भोरी थोरी वैस मुख पान खात,
अधर ललाई सोहै आछे हिय हार है ॥
प्यारे रंग लालजू को संग लै अनंग बस,
पञ्चमी सी बाल करे विपिन बिहार है।

—अमल सीतलदास

नीलमणि ऐसो जाको साँवरो सलौनो गात,
सोहत तिलोतमा लौं सुषमा सुहाग री।
मंद मुसकाती मुख सुन्दर लसत अति,
भाग भरी गोरी सीस कल गुण आगरी ॥
नीर औ समीर पानदान वाली आलीगन,
सेवत विविध भाँति जानी बड़े भाग री।
परम प्रवीन रसलीन है बजावे बीन,
प्रीतम नवीन रंग लाल अनुराग री ॥

—अमल गिरधारी

रतन जटित खंभ, डोरी लाल पाट की है,
पाटिका कनक मणि खचित बनाव सौं।
झूलत हिंडोरे हिलमिल नारिन सौं,
कौतुक करत राग रंग रति भाव सौं ॥
उरुक उरुक झूम, घूम झुकि परै, भूमि,
विवस हिंडोले मिस; रस ही के दाव सौं।
हा हा कर लीन्हों ज्योंहीं अंक भरि प्यारी दोऊ,
करैं हँसि रँगलाल प्यारे प्रेम चाव सौं ॥

—अमल बहादुरसिंह

श्याम घन रंग अंग दामिनी दमक पट,
जरकसी चीरा सरपेच मणि गण को।
कुंडल श्रवन मुक्ताहल चमक चारु,
इन्द्रधनु भौंह छवि, पिंग है नयन को।
आसन विचित्र पाक शासन से शोभावंत,
रंगलाल प्यारे पति, रसिक जनन को।
पावस में राग रस बरसावे बार बार,
देखु री मलार से उदार तन मन को॥

—अमल सीतलदास

परम प्रवीन पुन, राग रस रंग लीन,
प्रेम मदमाती जागी, चारों जाम जामिनी।
भानु के उदय हूँ लौं, केलि के भवन करै,
कौतुक अनेक भाँति, भाँति वर कामिनी।
नवल किसोरी परी, रागिनी गंधारिका लौं,
पहिरे विचित्र चीर सोहती ज्यों दामिनी।
प्यारे रंगलाल जू के, अंक में मयंकमुखी,
मुदित बजावे बीन नाचै ब्रज भामिनी।

—अमल सीतलदास

सुन्दर सुघर चारु, भूषण बसन धरे,
उज्ज्वल वरन तन अति सुकुमार है।
कर में कमल फूल, फेरत फिरत मंजु,
मंजुल निकुञ्ज वन, करत विहार है।
चुनि चुनि ल्यावे सहचरी गुणगान करि,
विविध प्रसून कौ रचत उर हार है।
साँझ समय आली आज प्यारे रंगलाल,
जू कौं निरख्यो श्रीराग तैं, परम उदार है।

—अमल बहादुरसिंह

ऊपर के सब कवित्त किसी एक ही कवि की रचना जान पड़ते हैं। उनकी शैली एक-सी है। सब कवित्तों के चौथे चरण में रंगलाल पद आया है। संभव है यह किसी कवि का नाम हो।

चित्रों पर फ़ारसी लिपि में चित्रकार का नाम सुर्ख़ या सुनहरी स्याही में लिखा है। हाशिया भी बहुत ही सुन्दर है। एक १८ वीं शताब्दी के अन्त का 'भैरव राग' का चित्र दूसरी पुस्तिका नं० OR 56 c में है। उस पर लिखा सवैया नीचे उद्‌धृत किया जाता है :—

> फूले जहाँ पुण्डरीक इन्दीवर ऐसे सरोवर मध्य सुहावे।
> सुन्दर रूप सिंगार किये यह गावत ताल बजावत आवे॥
> प्रेम सों ध्यान धरे शिव को फल से कछु नाहक हाथ लगावे।
> या विधि भाव बखानिये भैरों की रागिन भैरव नाम कहावे॥

इस पुस्तिका में ३५ तस्वीरें हैं जिनमें से एक भी प्रकाशित नहीं है। ब्रिटिश म्यूज़ियम के संग्रहालय में भारत के चित्रों का दुनिया में सर्वश्रेष्ठ संग्रह है। शोक का विषय है कि इनमें से अधिकांश से अभी तक कला-कोविद बिलकुल ही अपरिचित हैं।

शिवका स्वरूप

शिव परमयोगीश्वर हैं। उनका वाहन वृष है। उन्होंने काम को भस्म कर लिया है। पार्वती उनकी शक्ति है जिसमें सम्भृत होकर उनका तेज स्कन्द या स्वामिकार्त्तिकेय के रूप में प्रकट हुआ है। शिव के मस्तक में चन्द्रमा और गंगा हैं। उनके कण्ठ में विष का निवास है। शरीर पर भस्म है। अङ्ग में कुण्डली सर्पों का वेष्टन है। उन्होंने त्रिपुरासुर को जीत लिया है। कैलाश उनका वासस्थान है। उनकी एक संज्ञा 'भृगुपति' है। परशुराम को भी 'खण्डपरशु' और 'भृगुपति' कहते हैं। परशुराम-ने रेणुका को नवीन जन्म दिया था। उन्होंने क्रौञ्च पर्वत का दारण किया है। इन कल्पनाओं के साथ अनेक उपाख्यानों का सम्बन्ध है। प्रश्न यह है कि उनका वास्तविक अर्थ क्या है। ये सब भाव किन अचिन्त्य अध्यात्म अर्थों का संकेत करते हैं?

कालिदास शिव के स्वरूप को आद्योपान्त जानते थे। उस तत्त्व को उन्होंने अपने 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' नामक ग्रन्थों में प्रकट किया है। अन्तर्दृष्टि से शिव-तत्त्व का साक्षात्कार करने के बाद उन्होंने बाह्य-स्थूल दृष्टि से देखने वाले लोगों को लक्ष्य करके कहा था—

न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।

(कुमार० ५।७७)

शिव को यथार्थरूप से जानने वाले और अनुभव करने वाले मनुष्य कम हैं। शिव का पिनाक नामक धनुष कौन-सा है, उनके मदन-दहन का क्या रहस्य है, वृष कौन है, गङ्गा और चन्द्रमा क्या हैं, 'भृगुपति' किसे कहते हैं, कैलास और उस पर स्थित मणितट क्या है?—इत्यादि प्रश्नों का समाधान ही शिव के स्वरूप का यथार्थ निरूपण है।

शिव भारतीय योगविद्या के परम गुरु, आचार्य या आदिप्रवर्तक हैं। शिव और योग एक ही तत्त्व की ख्याति हैं। योग-समाधि का फल

ही शिव का आत्मदर्शन है। कालिदास ने लिखा है कि जिस समय देवकार्य की सिद्धि के लिये शिव की समाधि भङ्ग करने को कामदेव कैलास पर पहुँचा, उस समय शिव समाधि के द्वारा उस आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर रहे थे जिसे योगी लोग अपने शरीर के भीतर ढूंढ़ा करते हैं—

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति
हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्त-
मात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥
(कुमार० ३ । ५०)

अर्थात् नव इन्द्रियद्वारों में संचार करने वाली मानसी वृत्तियों को समाधि के द्वारा वशीभूत करके शिव उस अक्षर आत्मतत्त्व को अपने क्षेत्र या शरीर में ही देख रहे थे, जिसका क्षेत्रज्ञ योगी ज्ञान करते हैं। योग ही शिवत्व का आदि और अन्त है।

भारतीय रहस्य-तत्त्व के अनुसार मनुष्य का मेरुदण्ड या सुषुम्णा (Central Nervous System) ही वह यूप या खम्भा है जिसमें मनुष्यरूपी पशु बँधा हुआ है—

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्।

इसी यूप में अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप बाँधा गया था और इसी में हम में से प्रत्येक प्राणी बँधा हुआ है इस यूप में मनुष्य त्रिधा बद्ध है। वेद में कहा है—

चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महोदेवो मर्त्याँ आविवेश ॥
(ऋग्०)

अर्थात् मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्काररूपी चार सींगवाला, भूत-भविष्य-वर्तमानरूप तीन पैरवाला, मर्त्य और अमृत—दो सिरवाला तथा सप्त

प्राण रूप सात हाथोंवाला एक बड़ा विलक्षण वृषभरूप यह पुरुष है जो तीन स्थानों में बँधा हुआ है। यह बन्धन में पड़ा हुआ महादेव वृषभ अत्यन्त रुदन करता है, पर उस बन्धन से मुक्ति का उपाय इसके हाथ नहीं आता। इन्हीं तीन बन्धनों की ओर शुनःशेपने संकेत किया था—

उदुत्तमं वरुणपाशमस्म—
द्वाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्यव्रते
तवानागसो अदित ये स्याम॥
(ऋग्० १।२४।१५)

'हे वरुण, हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाशों को शिथिल करो, दूर करो। हे आदित्य, हम तेरे व्रत में अनागस् अर्थात् निष्पाप रहते हुए, अदिति-स्थिति को प्राप्त करें।' तीन प्रकार के पाशों का मोचन और त्रिपुरासुर की विजय एक ही अध्यात्म-तत्त्व का द्विविध निरूपण है। ये तीन पाश या तीन पुर कौन-से हैं? दार्शनिक-जगत् में प्रसिद्ध त्रिगण ही ये त्रिपुर हैं। इन तीन गुणों से यह ब्रह्माण्डव्यापी और पिण्ड-व्यापी सृष्टिविसृष्टिक्रम गतिशील है। त्रैगुण्य ही विश्व की आधार-शिला है। वेदों में, ब्राह्मणों में, उपनिषदों में, दर्शनों में, पुराणों में, तथा मध्यकालीन ग्रंथों में सर्वत्र ही त्रैगुण्य का अनन्त विस्तार पाया जाता है। ओम् के व्यष्टिरूप की व्याख्या ही त्रिगुण हैं। गार्ग्यायण के प्रणव-वाद में त्रैगुण्य का अनेक प्रकार से निरूपण किया गया है। यहाँ हम उस विस्तार में नहीं पड़ना चाहते। केवल थोड़े-से वैदिक और लौकिक त्रिकों का ही उल्लेख करके सन्तोष करेंगे—

अ	उ	म्
गायत्री	त्रिष्टुम्	जगती
जाग्रत्	स्वप्न	सुषुप्ति
प्रातःसवन	माध्यान्दिनसवन	सायंसवन
२४ वर्ष	४४ वर्ष	४८ वर्ष
वसु	रुद्र	आदित्य

वसन्त	ग्रीष्म	शरद्
आज्य	इध्म	हवि
भूः	भुवः	स्वः
पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौः
ऋक्	यजुः	साम
अग्नि	वायु	आदित्य
वाक्	प्राण	मन
होता	अध्वर्यु	उद्गाता
सत्त्व	रज	तम
गार्हपत्याग्नि	दक्षिणाग्नि	आहवनीयाग्नि
अम्बा	अम्बिका	अम्बालिका
विष्णु	ब्रह्मा	शिव
ज्ञान	क्रिया	इच्छा

इन कतिपय उदाहरणों से ही वैदिक साहित्य के गूढ़व्यापी त्रिकवाद का परिचय हो सकता है। इस देश की संस्कृति तो त्रिक के ही विचार-विस्तार का फल है। त्रिसुपर्ण, त्रिणाचिकेत, विष्णु का त्रेधा विचङ्क्रमण और त्रिवृत् आदि शब्दों में त्रिकवाद का ही संकेत गूढ़ है। ब्रह्माण्डव्यापी तीन गुण हमारे शरीर में भी काम कर रहे हैं। हर एक परमाणु में त्रिक की गति है। त्रिक ही शक्ति का रूप है। प्रकृति की व्यक्त दशा त्रैगुण्य की विषमता का ही फल है।

योग-शास्त्रों में वर्णन किया गया है कि इन तीन गुणों की अधीश्वरी शक्ति एक त्रिक या त्रिकोण के मध्य में प्रतिष्ठित रहती है। इस त्रिकोणात्मक शक्ति का संयम करके उसे आत्मवश्य करना ही महती विजय है। यह कुण्डलिनी शक्ति जब तक स्वच्छन्द होकर रहती है तब तक इसका प्रवाह अधोमुखी रहता है और असंयम के कारण इससे मनुष्य की हानि भी हो सकती है। इसके प्रवाह को ऊर्ध्वगामी बनाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्राप्ति ही शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्वस्थता की सिद्धि है। सुषुम्णा (Central Nervous System) में ही कुण्डलिनी

शक्ति का सञ्चार रहता है। सुषुम्णा या मेरुदण्ड के दो सिरे हैं। ऊपर के सिरे पर कैलास या मस्तिष्क है, नीचे के सिरे पर शक्ति का त्रिकोण या पीठ है। मानसिक समाधि के लिये आवश्यक है कि सबसे नीचे की कोटि पर स्थित शक्ति का प्रवाह ब्रह्माण्डस्थित शिव के साथ मिल जाय। यही शिव और शक्ति का विवाह है जिसका काव्यमय वर्णन अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है।

त्रिपुर

ऋग्वेद के कौषीत की और ऐतरेय ब्राह्मणों में त्रिक का निम्नलिखित वर्णन है—

(असुराः) हरिणीं (पुरं) हादा दिवि चक्रिरे,
रजतां अन्तरिक्षलोके, अयस्मयीमस्मिन् अकुर्वत।

(कौ० ८।८, ऐ० १।२३)

अर्थात् असुरों ने हिरण्मयी पुरी को द्युलोक में बनाया, रजतमयी को अन्तरिक्ष में अयस्मयी को पृथिवीलोक में। पुराणों में कहा है कि त्रिपुरासुर नामक असुर ने सोने-चाँदी और लोहे के तीन नगर या किले बनाये थे, जिनको लेकर वह सब जगह उड़ा करता था। अन्त में शिव ने उसका दमन किया और मार कर ताण्डव किया। इसी से शिव की संज्ञा 'त्रिपुरान्तक' या 'त्रिपुरारि' हुई। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रकरण में भी त्रिपुर का वर्णन किया है—

सा हैषा अग्निपुरी दीप्यमाना तिष्ठति तिसृभिस्त्रिपुरमेवास्मा एतत्करोति तस्मादु हैतत्पुरां परमं रूपं यत्त्रिपुरम्। स वै वर्षीयसा वर्षीयसा छन्दसा परां परां लेखां वरीयसीं करोति तस्मा पुरां परा परा वरीयसीं लेखा भवति, लेखा हि पुरः।

(श० ब्रा० ६।३।३।२५)

अर्थात् सब से उत्तम पुर त्रिपुर हैं। उत्तम छन्द से एक-एक लेखा को श्रेष्ठ बनाता है, क्योंकि लेखा ही पुर हैं। सोने-चाँदी और लोहे के तीन पुर देवों के वासस्थान हैं। वे उनकी रक्षा के उत्तम दुर्ग हैं। उनके मध्य में एक-एक

परिधि या रेखा है, वह रेखा ही पुर का रूप है। इस अलङ्कारमय वर्णन में जिन तीन पुरियों का वर्णन है वे पृथिवी, अन्तरिक्ष और तम हैं। वे ही बाल्य, यौवन और जरा हैं। प्रत्येक के बीच में एक विभाग की रेखा या सीमा है। तीनों रेखाओं के समवाय से जो कार्य सम्पन्न होता है उसे ही त्रिपुण्ड्र (पुण्ड्र = रेखा = पर्व = ग्रन्थि) कार्य कहना चाहिये मनुष्य की आयु एक त्रिपुण्ड्र है, क्योंकि इसमें ब्रह्मचर्य, यौवन, जरा की त्रिसन्धि विद्यमान है। संवत्सर भी एक त्रिपुण्ड्र है, अर्थात् उसमें भी त्रिक का व्यवहार तीन ऋतुओं के रूप में पाया जाता है। तीन पुरां का तीसरा त्रिपुण्ड्र है जिसको प्रत्येक व्यक्ति ने इच्छा या अनिच्छा से धारण कर रक्खा है। उसके अभ्यन्तर में ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक विद्यमान हैं। मेरुदण्ड पृथिवी-भाग है। मस्तिष्क द्युलोक या स्वर्ग है। इनके बीच का संसक्त भाग अन्तरिक्ष है। चौथा त्रिपुण्ड्र शिव का त्र्यम्बकरूप है। प्रत्येक भाग का नाम अम्बा है, तीन अम्बाओंवाला (त्रि + अम्बक) यह मनुष्य शरीर या मनुष्यायु त्र्यम्बक है। 'त्र्यम्बकं यजामहे' आदि मन्त्र में इसी वैदिक मनुष्यायु (त्र्यम्बक) की पूर्ति तक यजन की प्रार्थना की जाती है। इसी भाव को 'पुरुषो वाव यज्ञः' कहकर व्यक्त किया गया है। तीनों सवनों के जोड़ से मनुष्य की आयु २४ + ४४ + ४८ = ११६ वर्ष मानी गई थी। इस आयु तक निर्विघ्न कर्म करते हुए जीवित रहना त्र्यम्बक-यजन है। इसी की काल्पनिक परिभाषा त्रिपुण्ड्र धारण है जिस पर पीछे के जाबालोपनिषद् आदि में खूब विस्तार किया गया है। वेदों में इन्द्र को भी 'पुरां भेत्ता' कहा है।

मेरुदण्ड

त्रिपुर के साथ शक्ति का अभेद्य सम्बन्ध है। यह माना गया है कि मूलाधार-चक्र में त्रिकोणात्मक त्रिपुर के बीच में शक्ति वास करती है। ज्यों-ज्यों योग के द्वारा चक्रों की शक्ति पर संयम प्राप्त किया जाता है, त्यों-त्यों शक्ति नीचे के केन्द्र से उठकर ऊपर के केन्द्र में चढ़ती जाती है, यहाँ तक कि षट् चक्रभेद करने पर शिव और शक्ति का मेल हो

जाता है। इसके समझने के लिये मेरुदण्ड, सुषुम्णा या पार्वती का ज्ञान आवश्यक है। यह आनन्द का विषय है कि मेरुदण्ड के सम्बन्ध में भारतीय योग-शास्त्र का जो मत है वही करीब-करीब आधुनिक विज्ञान को भी सम्मत है।

मेरुदण्ड (Spinal Column) पृष्ठवंश या रीढ़ की हड्डी है जो तैंतीस अस्थिपर्वों से बना हुआ है। ये अस्थिपर्व (vertebrae) एक दूसरे से सटकर ऊपर-नीचे बाँस की पोरियों की तरह जमे हुए हैं। प्राचीन योगियों ने ३३ पर्वों की जो गिनती की थी उसी को हम अब भी मानते हैं। एक-एक पर्व में एक-एक देव का निवास है। इसी से ३३ कोटि देवों की गणना होती है। मेरुदण्ड का विस्तार मूलाधार-चक्र से मस्तिष्क के अधोभाग तक है। इसके पाँच भाग दृष्टिगोचर होते हैं जिनका वर्णन निम्नलिखित है। पाश्चात्य शरीर-शास्त्री भी इन प्रत्यक्षकृत विभागों को मानते हैं, अतएव हम उनके अंग्रेजी नाम भी कोष्टक में देते हैं—

१—मूलाधार—इसमें ४ पर्व (vertebrae) हैं जो कि ऊपर के पर्वों की अपेक्षा छोटे और विकसित-दशा में हैं। ये जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। इस भाग को 'कीकसा' (Coccyx) कहते हैं, जिसके कारण यह भाग (Coccygeal region) कहा जाता है। कॉकसिक्स (Coccyx) का संस्कृत रूप 'कीकसा' है। कीकसा से ही कैकसी-शब्द बनता है जो दशानन रावण की माता का नाम था। इस प्रदेश में पृथिवी-तत्त्व प्रधान है और गुदा भाग का इससे नियन्त्रण होता है।

२—स्वाधिष्ठान—(Sacral Region)—इस भाग में पाँच पर्व हैं जो एक ही अस्थि में जुड़े-से रहते हैं। इस संयुक्त अस्थि को Sacrum कहते हैं। मूलाधार और स्वाधिष्ठान की दोनों अस्थियां (Coccyx और Sacrum) के नौ पोरों को निकालकर कोई-कोई अर्वाचीन शरीर-शास्त्री मेरुदण्ड में २४ अस्थिपर्वों (vertebrae) की गणना करते हैं। परन्तु हमारे यहाँ शक्ति को तैंतीस पर्वसंयुक्त ही माना है। इस चक्र में जलतत्त्व प्रधान है और उपस्थ-प्रदेश के कार्यों का सञ्चालन यहाँ से होता

है। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार 'आपः' अर्थात् जलतत्त्व ने इस प्रदेश में निवास किया है—

आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

काम-विकार का अत्यधिक सम्बन्ध इसी चक्र के संस्थान से है। इसमें से जन्म लेने वाली विलास की वृत्तियों को जलतत्त्व से प्रसूत होने के कारण 'अप्सरा' कहा जाता है। 'अद्भ्यः सरन्तीति अप्सरसः।' जल को 'इरा' भी कहते हैं और काम की एक संज्ञा इराज (Eros) भी है।

३–मणिपूर (Lumbar Region)—इसमें पाँच पर्व हैं। इसमें तेज-तत्त्व का अधिष्ठान है। जठराग्नि के कार्यों का नियमन इसी की शक्ति से होता है।

४–अनाहत (Dorsal Region)—इसमें १२ पर्व हैं। यहाँ वायु-तत्त्व प्रधान है और हृत्प्रदेश का सञ्चालन इस चक्र की शक्ति से होता है।

५–विशुद्धिचक्र (Cervical Region)—इसमें ७ पर्व हैं। यहाँ आकाश-तत्त्व है, जिससे कण्ठ का नियमन होता है। इन पाँच चक्रों तक ३३ पर्व पूरे हो जाते हैं और पञ्चभूत भी समाप्त हो जाते हैं। इनसे ऊपर छठे-सातवें चक्र अभौतिक शक्ति से प्रेरित होते हैं। जिस योगी ने साधना के द्वारा पाँचों चक्रों पर अधिकार कर लिया है उसे फिर काम-बाधा नहीं सता सकती। इतनी समाधि के द्वारा वह अपने अभ्यन्तर से काम के अस्तित्व (Subjective Existence) को मेट देता है, उसके रूप को विपरिणमित कर देता है। भौतिक देहवाला कामदेव पाँच चक्रों तक ही है। भूतों के पर्यवसान के साथ काम भी विदेह या अनङ्ग बन जाता है। शिव ने काम की आभ्यन्तरिक सत्ता को समाधि के द्वारा भस्म कर दिया था। इसीलिये कवि ने उनको 'रूप से मोहित न हो सकने वाला' कहा है—

अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्
पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति।

समाधि की उस ऊँची स्थिति में पहुँच कर जब शिव के मन में कामदेव के कारण काम-विकार उत्पन्न हुआ तो उन्होंने यही सोचा कि मेरी स्थिति में आये हुए योगी को आन्तरिक काम-बाधा नहीं सता सकती, अवश्य ही इसमें कोई बाह्य कारण होना चाहिये। देखा, तो सामने के वृक्ष पर काम को मूर्तिमान् पाया और तत्क्षण ही तृतीय नेत्र के अप्रतिम तेज से उसे भस्मीभूत कर दिया—

भस्मावशेषं मदनं चकार।

छठा चक्र 'आज्ञाचक्र' कहलाता है, जिसका स्थान भ्रूमध्य में है। इससे भी ऊपर सातवाँ चक्र 'सहस्रार' है। कोई-कोई इनके मध्य में एक और चक्र की गणना करते हैं, जिससे आठ चक्रों की संख्या पूरी होती है। अथर्ववेद में आठ ही चक्रों का वर्णन है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
अस्यां हिरण्मय कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

अर्थात् यह शरीर देवपुरी है, इसका नाम अयोध्या है, क्योंकि यहाँ देवासुरयुद्ध में देवों की विजय से असुरयुद्ध शान्त हो चुका है। इसमें आठ चक्र और नौ इन्द्रियद्वार हैं। ज्योति अर्थात् तेज से आवृत जो हिरण्यमय कोष (मस्तिष्क) है वही इसमें स्वर्ग है। हिरण्यमय कोष या सोने की पुरी ब्राह्मण ग्रन्थों में द्युलोक में कही गई है। यह द्युलोक मस्तिष्क है। सब देवों का वास यहीं है, यहीं से सब ज्ञानतन्तुओं का विकास होता है। इसी से यहाँ ज्योतिषावृत या प्रकाशमय लोक की कल्पना की गई है इस ब्रह्माण्ड के ही एक प्रदेश का नाम कैलास है। कालिदास ने कैलास के सम्बन्ध में मेघदूत में कहा है—

यो वितत्य स्थितः खम्
(१।५८)

अर्थात् कैलास 'खम्' या ब्रह्माण्ड-प्रदेश को वितान की तरह व्याप्त करके स्थित है। ब्रह्मा का स्थान पाँचों चक्रों से ऊपर खं-ब्रह्माण्ड या मस्तिष्क है। पाँच चक्रों तक 'कम्' का प्रदेश है। इन चक्रों के जो

नाम ऊपर दिये गये हैं उनका जन्म किस समय हुआ यह निश्चय ज्ञात नहीं। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि ये नाम वैदिक साहित्य में हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुए। प्रतीत होता है, चक्रों के वैदिक नाम वे ही हैं जो सप्त व्याहृतियों के हैं और सन्ध्या में जिनका पारायण किया जाता है—

ॐ भूः पुनातु शिरसि —सहस्रदल कमल
ॐ भुवः पुनातु नेत्रयोः —आज्ञाचक्र
ॐ स्वः पुनातु कण्ठे—विशुद्धिचक्र
ॐ महः पुनातु हृदये—अनाहतचक्र
ॐ जनः पुनातु नाभ्याम्—मणिपूरचक्र
ॐ तपः पुनातु पादयोः—स्वाधिष्ठान और मणिपूरचक्र
ॐ सत्यं पुनातु पुनः शिरसि—शिरःस्थान—

··सीमा है। सीमा उभय-सामान्य होती है अर्थात् मध्य में स्थित सीमा का सम्बन्ध दोनों ओर लगाया जाता है। जैसे उत्तर और दक्षिण के मध्य की सीमा विन्ध्याचल है। वह आर्यावर्त का दक्षिणी भाग और दक्षिणापथ का उत्तरी भाग गिना जायगा। इसी प्रकार विदृतिद्वार इस देह और अनन्त के बीच की सीमा है। कहा भी है—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।
सा एषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम॥

(ऐ० उ० १।३।१२)

'वह इन्द्र इस सीमा को विदीर्ण करके जिधर से इस देह में आया, उस द्वारका नाम 'विदृतिद्वार' है। उससे लगा हुआ नन्दनवन है। वही ब्रह्मानन्दका स्थान है। इसी सीमा को लक्ष्य करके कहा जाता है। ॐ सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। 'भू' से 'तप' तक एक आवृत्ति हुई। यह मर्त्य या एकपाद् अंश है। इससे परे अमृत-त्रिपाद्लोक है। उसका सूत्र भी शिरः-स्थान से संयुक्त है। दिव्य चेतनाओं (Ethereal Impulses) का प्रवेशद्वार विदृतिमार्ग ही है। इसी की पवित्रता के लिए 'सत्यं पुनातु पुनः शिरसि' कहा जाता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि मेरुदण्ड की रचना तैंतीस पर्वों के संयोग से हुई है। 'पर्व' जिसमें हों उसी को 'पर्वत' कहते हैं। 'पर्वाणि सन्ति अस्मिन्निति पर्वतः।' इसलिए मेरुदण्ड पर्वत हुआ। स्थूल पहाड़ों को भी चोटीरूपी पर्वों के कारण 'पर्वत' कहा जाता है। इसलिये मेरुदण्ड का पर्वत नाम बहुत ही उपयुक्त और सार्थक है। इस पर्वतराज के भीतर रहनेवाली शक्ति को उपचार से 'पर्वतराज-पुत्री' या 'पार्वती' कहा जाता है। उस पार्वतीकी स्वाभाविक गति शिवकी ओर है। पार्वती शिव को छोड़कर और किसी का वरण कर ही नहीं सकती। परन्तु पार्वती को शिव की सम्प्राप्ति तप के द्वारा ही हो सकती है, भोग के मार्ग से नहीं। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में इसी तत्त्व का वर्णन किया है। शिवजी कैलाश पर तप कर रहे थे। उन्होंने अखण्ड समाधि लगायी थी। उस हालत में काम ने उनकी समाधि को भङ्ग किया और पार्वती ने जो वहाँ पर उनकी पूजा के लिए उपस्थित थीं शिव के मनको हाव-भाव से विकृत करना चाहा। शिव ने काम को भस्म करके पार्वती की सब अभिलाषाओं पर पानी फेर दिया। पार्वती को पहले रूप का अभिमान था, सोचती थीं रूपसे शिव को मोहित कर लेंगी। परन्तु ऐसा आजतक कहीं नहीं हुआ। शिव की प्राप्ति तप से होती है, भोग से नहीं। यही बात कवि ने कुमारसम्भव में बतायी है। इसीलिये पार्वती ने भी तप और समाधि के द्वारा शिव को प्राप्त करने का नया व्रत आरम्भ किया—

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥

अर्थात् अपनी आँखों के सामने मनोभव (कामदेव) को भस्म होते देखकर पार्वती का रूप-गर्व खण्डित हो गया, उन्होंने रूप की भरसक निन्दा की और मन में स्थिर किया कि शिवकी प्राप्ति के लिये केवल सुन्दरता पर्याप्त नहीं है। इसलिए उन्होंने दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

रूप को अवन्ध्य (अमोघ) करने के लिये पार्वती ने तप के द्वारा आत्म-समाधि लगाना निश्चय किया। समाधि की पूर्णता ही शक्ति का संयम या शिव-तत्त्व की प्राप्ति है। विचार और मनोभावों की उच्छृङ्खलता आसुरी है, इससे प्राण क्षीण होते हैं, प्राणों की व्याधि से या मानसिक विकल्पों से जीवनशक्ति का ह्रास होता है। व्याधि से इतर समाधि है। प्राणों की समाधि से मन की स्थिरता और शान्ति होती है। मस्तिष्क बहुत ही सूक्ष्म और चैतन्यमय है। उसकी प्रक्रियाओं की गति और बल विद्युत् के समान तेज हैं। वस्तुतः मन की तुलना में विद्युत् का वेग भी कुछ नहीं है। मस्तिष्क में चार वापी या सरोवर हैं जिन्हें अँग्रेजी में वेन्ट्रिकिल (Ventricles) कहते हैं। ये पुराणों के मानस आदि सरोवर हैं जहाँ देवता बसते हैं। इन्हीं के आस-पास के उन्नत प्रदेशों को 'पर्वत' कहा गया है। कैलास और मन्दराचल, सुमेरु और गन्धमादन इन्हीं की संज्ञाएँ हैं। ये देवों के क्रीड़ा-पर्वत हैं। देवरूपी इन्द्रियों को प्रकाशित करनेवाले स्थान ही (Sensory and Motor Centres) देवों के क्रीड़ास्थल हैं। पुराणों के ये वर्णन आलङ्कारिक ही समझने चाहिये। इनका मूल मस्तिष्क और मेरुदण्ड की रचना में पाया जाता है। मस्तिष्क से चेतनाओं का आना और जाना एक प्रकार की क्रीड़ा या केलि है। इन्हीं केलियों के स्थान को 'कैलास' कहा जाता है—

केलीनां समूहः कैलम्। तेन आस्यते अत्र इति कैलासः।

केवल कैलास ही क्या, अलकापुरी, वैभ्राज या चैत्ररथवन, नन्दन-कानन, सब मस्तिष्क के ही विभिन्न प्रदेशों की संज्ञाएँ हैं। योग-समाधि के लिये इससे प्रशस्यतर और क्या हो सकता है कि हमारे चित्त की समस्त बाह्य वृत्तियाँ और विचार मस्तिष्क में ही स्थिर होकर हम आनन्द का अनुभव करें। नन्दनवन-विहार, चैत्ररथ की सैर, कैलासवास आदि पौराणिक कथाओं का आध्यात्मिक अर्थ यही है।

पिनाक क्या है ?

शिव के धनुष की संज्ञा 'पिनाक' है। शिव को 'पिनाक-पाणि' कहते हैं, पिनाक को अधिज्य करनेवाला शिव के अतिरिक्त और कोई नहीं है। जो व्यक्ति जिस धनुष को अधिज्य करने की शक्ति रखता है वही उस धनुष का धारण करनेवाला कहा जाता है। पिनाक के धारण की शक्ति उसी में हो सकती है जो शिवरूप हो गया हो। धनुष के दण्ड में अनन्त शक्ति रहती है। उस शक्ति को व्यक्त करने के लिये या उससे कार्य लेने के लिये धनुदण्ड के एक सिरे पर बंधी हुई प्रत्यञ्चा को दूसरे सिरे से मिलाना अनिवार्य है। जिसने धनुष को अधिज्य नहीं किया, वह उसकी शक्ति पर अधिकृत नहीं हो सकता। शिव ने पिनाक को अधिज्य करके उसकी शक्ति को अपने वश में कर लिया है। यह पिनाक मेरुदण्ड की ही दूसरी संज्ञा है। निरुक्तकार यास्क ने लिखा है --

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य।

(नि० ३।२१)

अर्थात् रम्भ और पिनाक दण्ड को कहते हैं। मेरुपर्व का दण्ड ही वह विशिष्ट दण्ड है, जिसके लिये रम्भ और पिनाक-शब्दों को पुराणकारों ने अपनाया। इस तरह पिनाक या मेरुदण्ड ही शिव का परमधनु है। इस धनुष के एक सिरे पर शक्ति है, दूसरे पर शिव। शक्ति की कल्पना कुण्डली की आकृति-जैसी की गयी है, इसीलिये उसे 'कुण्डलिनी' कहते हैं। अविकसित-दशा में सोई हुई शक्ति को सर्प की तरह विश्राम करते हुए माना है। वस्तुतः शक्ति का रूप वैज्ञानिकों के अनुसार भी सीधी रेखा से व्यक्त नहीं हो सकता। शक्ति की गति तरङ्गाकार (wavy motion) होती है। यह तरङ्गाकृति सर्पकुण्डलों (serpent coils) से मिलती है, अतएव अर्वाचीन वैज्ञानिक जिसे लहरिया गति मानते हैं, उसे ही भारतीय निरुक्तकारों ने 'कुण्डलित गति' कहा है। इसी रूपके कारण शक्ति को 'कुण्डलिनी' कहा गया है। यह कुण्डलिनी ही वह प्रत्यञ्चा है जो मेरुदण्ड के मूलाधार सिरे में स्थित रहती है। प्रत्येक चक्र या केन्द्र का अधिष्ठातृदेव शिव है। पाँच चक्रों

में पृथक्-पृथक् शक्तियों के साथ निवास करने के कारण शिव को 'पञ्चानन' भी कहा जाता है। पाँच चक्र ही शिव के पाँच मुख हैं। पञ्च वैदिक प्राण ही कालान्तर में 'पञ्चानन' कहलाये। पञ्चानन शिव की शक्ति भी पञ्चात्मिका ही समझनी चाहिये। इसी कल्पना के अनुसार कहा जाता है कि शक्ति शिव के चारों ओर वेष्टित या वलयित होकर प्रत्येक चक्र में निवास करती है। उसका सर्वप्रथम स्थान मूलाधार-चक्र है। इस कुण्डलिनी प्रत्यञ्चा को धनुष के दूसरे सिरे से, जहाँ शिव रहते हैं, मिला देना ही शक्ति का शिव के साथ विवाह करना है। योग के द्वारा षट्चक्रवेध होकर शक्ति का केन्द्र ब्रह्माण्ड में उठ जाता है. तभी मानो पिनाक अधिज्य हो जाता है, और पिनाक के स्वामी को यह अधिकार प्राप्त होता है कि उसके पिनाक-दण्ड में जितनी शक्ति निहित है उस सब को वह अपने काम में ला सके।

कृष्ण- यजुर्वेद में शिव को 'अवततधन्वा पिनाकहस्तः' कहा है। अवततधन्वा का अर्थ अधिज्य धनुषवाला है अर्थात् जिसके धनुष पर प्रत्यञ्चा आरोपित है। पुराणों में मस्तिष्क के जिन प्रदेशों को कैलास, गन्धमादन, मन्दर आदि कहा है उन्हीं को ही वेद में 'त्रिककुद्' और 'मूजवान्' पर्वत कहा गया है। जहाँ इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा नामक तीन प्राणधाराएँ मिलती हैं, भ्रूमध्यभाग के समीपका वह प्रदेश ही वैदिक त्रिककुद् पर्वत है। ककुद् को ही 'ककुप्' कहते हैं। ककुप् प्राण का वैदिक नाम है—

प्राणो वै ककुप् छन्दः—

(श० ब्रा० ८।५।२।४)

मूजवान् और त्रिककुद् पर्वतों की योगविद्या में बड़ी महिमा है। स्थूल दृष्टि रखनेवाले इन्हें बाह्य—स्थूल पर्वत समझते हैं और इनके अध्यात्म यौगिक अर्थों से वञ्चित रह जाते हैं। त्रिककुट पर्वत वह स्थान है जहाँ शिव का तृतीय नेत्र है। शिवका तृतीय नेत्र ही वास्तविक त्रिककुट् है। शिव ने तृतीय नेत्र के प्रताप से काम को भस्म कर दिया।

इन्द्र ने जिस स्थान पर जिस चक्षु के प्रभाव से वृत्रासुर का वध किया वह त्रिककुट् हुआ—

यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्।
(श० ३।१।३।१२)

काम और वृत्र एक ही अध्यात्मभाव की द्विविध कल्पना हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'पाप्मा वै वृत्रः' (शतपथ० ११।१।५।७) अर्थात् पाप ही वृत्रासुर है—यह कहा है। गीता में भी काम को सब पापों का सिरमौर माना है—

महाशयो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।

इन्द्र ने वृत्र को वश में करके देवों के लिए स्वराज्य प्राप्त किया। शिव ने काम को भस्म करके देव सेना की रक्षा की। काम को भस्म करनेवाली दृष्टि किसकी हो सकती? जिसने योग के द्वारा छठे चक्र को वश में कर लिया है अर्थात् त्रिककुद् पर्वत का अञ्जन जिसने अपने नेत्रों में आँज लिया है, वही काम और उसकी अप्सराओं के हावभावों से विकार को प्राप्त नहीं होता। अथर्व वेद में त्रिककुद् पर्वत से उत्पन्न अञ्जन की बहुत महिमा कही गयी है। त्रैककुदाञ्जन को नेत्रों में आँज लेने से पुनः तारकासुर का भय नहीं रह सकता—ऐसे मनुष्य को विकार अपनी ओर नहीं खींच सकते।

मूजवान पर्वत को सोमका उत्पत्ति स्थान माना गया है। यह पर्वत उदीची दिशा में है। उदीची दिशा के मूजवान् को काश्मीर में ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। उदीची दिशा या उत्तरायण मार्ग मस्तिष्क में है। दिशाओं का आध्यात्मिक अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है। रेत का अधिष्ठान उपस्थ-प्रदेश ही दक्षिण दिशा है जहाँ पितरों का निवास है। बिना दक्षिणायन मार्ग से चले हुए पितृलोक नहीं मिलता। इसी प्रकार प्राची दिशा मुख, प्रतीची दिशा गुदा और उदीची दिशा मस्तिष्क है। वहीं का स्थान मूजवान् है जहाँ सोम उत्पन्न होता है। सोम मस्तिष्क में बहने वाला और उसके स्वास्थ्य का परम कारण वह

अत्यन्त पवित्र रस है जिससे समस्त केन्द्रीय नाड़ी जाल (Central Nervous System) का सिंचन होता है। सोम की पवित्रता पर मस्तिष्क की समाधि निर्भर करती है। समस्त विचारों की विद्युत् सोमरस पर, जो मस्तिष्क में ओतप्रोत है, उसी प्रकार अपने संस्कार डालती है जैसी रसपूरित घट (Battery) को विद्युत् का प्रवाह प्रभावित करता है। समस्त अध्यात्म और अधिभूत शक्ति को, जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्य में पायी जाती है, उत्पन्न करने के लिये यह सोमपूरित कलश या मस्तिष्क हम सब में प्रतिष्ठित है। इसके तार सर्वत्र फैले हुए हैं, इस सोम का ही नाम अमृत है; क्योंकि इसी की पवित्रता और स्थिरता पर शारीरिक और मानसिक अमृतत्व निर्भर करता है। इस अमृत को शरीर में ही पचा लेना सबसे अधिक आवश्यक कर्तव्य है। वैसे तो शक्तिरूपी यह अमृत हम सबके भीतर रहता है, परन्तु सब मनुष्यों के अधिकार में यह बात नहीं होती कि वे अपने अमृत का स्वयं ही पान कर सकें। उनके अमृत को असुर पी जाना चाहते हैं। उनकी शक्ति शरीर के भीतर ही संचित न होकर बाह्य विषयों में क्षीण हो जाती है।

यज्ञ के कर्मकाण्ड में सोमपान कराने वाले सोमयागों का बहुत वर्णन आता है। उन सबका उद्देश्य यही है कि मनुष्य रूपी शकट में जो सोम भरा है उसे अपने ही भीतर पचाकर हम अमृतत्व लाभ करें। शरीर के भीतर सोम (Cerebro-spinal fluid) की उत्पत्ति में जितनी प्रक्रियाएं (physiological processes) होती हैं उनका अनुकरण याज्ञिक कर्मकाण्ड में किया जाता है। हमारी इन्द्रियाँ ही सोमपान के ग्रह या पात्र हैं। उस वैदिक कर्मकाण्ड के आध्यात्मिक अर्थ पर विस्तार से विचार करना यहाँ इष्ट नहीं है। सारांश यही है कि सोम का ही दूसरा नाम अमृत है। सोम उदीची दिशा का देवता है—

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः।

सोमपान और अमृतपान एक ही तत्व को बताते हैं। पूर्ण समाधि, मन पर पूर्ण अधिकार, विचारों का पूर्ण संयम, योग की परम सिद्धि ही

सोमपान का फल है। शरीर के रेत (वीर्य) को शरीर में ही ओजरूप से प्रतिष्ठापित कर लेना ही परम सोमपान है। वेद में जिसे सोमपान कहा है, उसी को पुराणों मे अमृतपान कहा गया है। शिव सदा अमृत का पान करते हैं। अमृत और सोम का परम स्थान चन्द्रमा उनके मस्तक पर है। शिव स्वयं सोम हैं। शक्ति या पार्वती को आत्म-वश करके ही शिव 'सोम' कहलाते हैं। शिवजी उमा के सहित होने से सोम (स + उमा) बनते हैं। शिव का सोम स्कन्द रूप प्रसिद्ध ही है। उमा और शिव के सम्मिलन का परिणाम स्कन्द है। इसका विवेचन आगे करेंगे।

केन्द्रीय नाड़ीजाल को सींचने वाला सोम या अमृत मस्तिष्क से प्रवाहित होता हुआ सुषुम्णा को तृप्त करता रहता है। इसी का योग में इस प्रकार वर्णन आता है कि अमृत आकाश-प्रदेश से एक-एक बूँद करके टपकता है, योगिजन उसका पान कर लेते हैं। असंयमी लोग इसी अमृत का क्षय कर देते हैं। असुरों के अमृतपान से सोम का क्षय होता है. देवों के पान से आप्यायन या वृद्धि। इन्हीं द्विविध प्रक्रियाओं को हम चन्द्रमा के वृद्धि और क्षय में पाते हैं। उनकी अध्यात्म-व्यञ्जना को बताने के लिये आधिदैविक चन्द्रमा का उदाहरण लिया जाता है।

वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में मस्तिष्क को कलश, कुम्भ या द्रोण कहा गया है। इस कलश में अमृत भरा हुआ है। अमृत पूर्ण यह घट हम सबके अन्दर उलटकर रक्खा हुआ है। इसमें से निरन्तर अमृत का क्षरण होता रहता है। इस झरते हुए अमृत बिन्दु को योगी पी जाते हैं, विषयी इसका दुरुपयोग करते हैं। 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में गायत्री के सोमाहरण की जो कथाएँ हैं, उनसे मिलती हुई कथाएँ पुराणों में गरुड़ और अमृतघट की हैं। गरुड़ जी स्वर्ग से अमृत का घट लाये थे। उस अमृत को पीकर नाग अपना विष बढ़ाना चाहते थे, परन्तु वे उसे न पी सके और अमृत स्वर्ग को ही लौट गया। शरीर के प्राण ही नाग या सर्प हैं, वीर्य गरुत्मान् या गरुड़ है। रेत की सूक्ष्मतम, पवित्र,

ब्रह्माण्ड संचारिणी शक्ति अमृत है। बिना अमृत के असुर अपने भोग भी नहीं भोग सकते। इसीलिये वे सदा अमृत के लिये लालायित रहते हैं। समुद्र-मन्थन करके उन्होंने इसी अमृत को पीना चाहा था परन्तु देवताओं के प्रयत्न से अमृत असुरों को नहीं मिल पाया। प्रकृति के स्वाभाविक विधान में अमृत के अधिकारी देव हैं। देव या इन्द्रियप्राण अमृत पीने से शक्तिमान् होकर इन्द्र या आत्मा के तेज की वृद्धि करते हैं। जो अमृत देवों को अमरपन देता है, वही असुरों के हाथ में सुरा-रूप हो जाता है, जिसको पीकर वे उद्दाम और उच्छृङ्खल हो जाते हैं। सुरा विष रूप है। उससे आयु का क्षय होता है। मानसरोवर देवताओं का स्थान है। उसमें अमृत भरा हुआ है, यहाँ समस्त चक्र या कमल अमृत के प्रताप से खिले रहते हैं, हंस रूप योगी उनका उपभोग करते हैं।

शिव का विषपान

जलपूर्ण घट में से सन्तत क्षरणशील जलबिन्दु से शिव-स्नान का जो प्रयोग अहर्निश हमारे सम्मुख किया जाता है उसका अध्यात्म अर्थ ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। सोमपूरित मस्तिष्क से जो अमृतबिन्दु अनवरत निःसृत होकर शरीरस्थ तेजः स्फुलिङ्गका संवर्धन करता है उसी की अनुकृति इस घट के द्वारा बताई जाती है। यह अध्यात्म प्रयोग (spiritual experiment) है इसी प्रकार के यज्ञ में सोम का कूटना, छानना और पीना आदि प्रयोग हैं। आध्यात्मिक तत्वों के परिज्ञान के लिए भौतिक प्रयोगों का आश्रय लिया जाता है। देवों के अमृतपान के साथ शिवजी विष पीकर उसकी दाहक ज्वालाओं को शान्त नहीं कर देते, तब तक देवता अमृत पान नहीं कर सकते। तुलसीदासजी ने कहा है—

जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय।

अर्थात् हलाहल विष की ज्वाला से जब सब देवता जलने लगे तब शिव ने कृपा करके विष का पान कर उसे अपने कण्ठ में रख लिया।

यदि शिव ऐसा न करते, तो देवों को अमृत कभी न मिल सकता। देखना चाहिये कि विष क्या है और शिव ने कण्ठ में ही विष को क्यों रख लिया है ?

निघण्टु में जल के १०१ नाम दिये गये हैं—'उदकनामानि एक-शतम्'। उनमें दो शब्द विष और अमृत भी है। ये दोनों जल के पर्यायवाची हैं। लौकिक संस्कृत के कोषों में भी 'विष' और 'अमृत' जल के पर्याय रूप में पाये जाते हैं। बात यह है कि वीर्य या रेत जल का ही रूप है। रेत ही काम का अधिष्ठान है। रेत से जो शक्ति बनती है उसके दो रूप हैं—दैवी और आसुरी या अमृत रूप और विषरूप। उस शक्ति से जब मनुष्य आत्म विनाश की ओर प्रवृत्त होता है तब वह उसके विष रूप से दग्ध होता है। उसी को संयम के द्वारा शान्त बना कर उसके सौम्य रूप से जब अमृतत्व की ओर बढ़ता है तभी मानों जल या रेत-तत्व के अमृत का आस्वादन करता है। विष और अमृत दोनों एक ही समुद्र से जन्म लेते है। विष के साथ यदि अमृत भी रहे तो यह विष का ही काम करेगा। अतएव विष के प्रकट होने पर देवों को यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि कोई महावीर इस विष को पचाकर इसे शान्त कर दे तो हमारे लिये अमृत-पान का मार्ग सरल हो जाय। शिव के अतिरिक्त और किसी देव में यह सामर्थ्य न थी। शिव के विषपान का कारण उनका योग है। शिवजी योगीश्वर हैं। उन्होंने छओं चक्रों पर पूर्ण अधिकार पा लिया है। अतएव शक्ति का जो विशाक्त रूप है उसको पचाने या भस्म करने की सामर्थ्य भी उनको प्राप्त है। हम कह चुके हैं कि पाँच चक्रों का भेद न कर लेने के बाद योगी पुनः काम के अधीन नहीं होता। काम सर्वथा योगी के वश में हो जाता है, अर्थात् वह काम के विकारों को पूर्णतः जीत लेता है। जब-तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तबतक साधना के मार्ग में निरन्तर काम की बाधाएँ आती हैं। काम या जल का विष-स्वरूप जब तक योगी को जलाता रहता है, तब तक वह अमृत का निर्बाध-पान नहीं कर पाता। शिव-स्वरूप होकर ही योगी काम से अतीत हो जाता है। काम

से अतीत योगी ही विष को पूरी तरह अपने वश में कर पाता है। विष को जिसने अपने लिये निरापद बना लिया हो, उसी के देवों को अमृतपान की सुविधा और सामर्थ्य प्राप्त होती है। विष को कण्ठ या पाँचवें चक्र में स्थापित करने का रहस्य यह है कि पाँचवें चक्र में आकर ही योगी निर्भय और निरामय बनता है। यदि विष कण्ठ से नीचे रहे अर्थात् योगी की साधना विशुद्धिचक्र से नीचे हो तो विष अपना प्रभाव अवश्य दिखलाता है। देवासुरों के या विष और अमृत के आध्यात्मिक युद्ध में विषपान की सामर्थ्य रखने वाला योगीश्वर ही स्वयं-विजयी होकर सबको विजय प्राप्त कराता है।

भृगु और भस्म

शिव को 'भृगुपति' भी कहा जाता है। जल तत्त्व या रेत को षट्-चक्रों की अग्नि में खूब भूनकर भस्म कर देने के कारण शिवजी 'भृगु' कहलाते हैं। गोपथ-ब्राह्मण में कहा है—

ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यः (अद्भ्यः) यद्रेत असीत्तदभृज्यत, यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्, तद् भृगोर्भृगुत्वम्।

(गो० पू० १ । ३)

अर्थात् तपाये हुए जलों से जो रेत उत्पन्न हुआ, वह भूँजा गया, इसलिए वह 'भृगु' कहलाया। भूँजने के कारण ही भृगु का भृगुत्व है। जलों को भस्म करने के लिये इस शरीर को यदि भाड़ मान लें तो योगी उसका भड़भूँजा है। वह जलों की भस्म बना कर उसको अपने शरीर पर लगाता है, यही उसके ब्रह्मचर्य का तेज है। ब्रह्मचारी के शरीर पर जो स्वाभाविक तेज या कान्ति रहती है, वह वीर्य की भस्म ही है। अर्थात् उसके शरीर में तप के द्वारा रेत का परिपाक होता है और वह भस्म रूप में परिणत हो जाता है। मेघ भी जल की भस्म है—

अभ्रं वा अपां भस्म

(शतपथ० ७ । ५ । २ । ४८)

अग्नि के संयोग से तप्त होकर जल आकाशगामी होता है। इसीलिये तप के द्वारा मनुष्य ऊर्ध्वरेत बनता है। बाहर ब्रह्माण्ड में सूर्य के ताप से जैसे मेघ बनते हैं, वैसे ही शरीर के भीतर तप की अग्नि के द्वारा रसों के परिपाक से रेत की भस्म बनती है; वही शरीर की त्वचा के ऊपर तेज और कान्ति के रूप में प्रकट होती है। ब्रह्मचारी के लिये इस प्रकार की भस्म पर विभूति है। यह भस्म ही उसके मण्डन के लिये श्रेष्ठ अंगराग है। इस भस्म से भासित होने के कारण ही बहुरूप-धारी शिव को कालिदास ने 'ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा' लिखा है।

भृगुपति और रेणुका

तुलसीदासजी ने लिखा है—

परशुराम पितु-आग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥

अर्थात् परशुराम ने रेणुका का वध करके उसे नया जीवन प्रदान किया। यह रेणुका कौन है और क्यों परशुराम ने उसका संहार किया? पुराणों के अनुसार जमदग्नि की पत्नी रेणुका थी। उसके पाँच पुत्र थे। सबसे छोटे का नाम भृगुपति परशुराम था। रेणुका ने सरोवर पर चित्ररथ गन्धर्व को अप्सराओं के साथ विहार करते देखकर विचारा कि वह भी जमदग्नि के साथ विहार करे इस अपवित्र संकल्प के आते ही उसका तेज नष्ट हो गया। जब वह लौट कर आयी, तब जमदग्नि ने उसको हततेज देखकर ध्यान में विचारा तो सब रहस्य जान लिया। अपवित्र रेणुका को अपने पास रखना अनुचित जान कर उन्होंने अपने बड़े पुत्र से कहा कि तुम रेणुका का संहार करो। वह यह नहीं कर सका। शेष तीन पुत्र भी यह नहीं कर सके। तब पाँचवें पुत्र परशुराम ने पिता की आज्ञा पाते ही रेणुका का संहार कर डाला और जमदग्नि से वरदान माँगा कि रेणुका फिर जीवित होकर पहले की तरह ही हो जाय और उसे बीच की घटना की कुछ भी खबर न रहे। जमदग्नि के 'तथास्तु' कहने से रेणुका फिर पूर्व के समान ही पवित्र और वर्चस् से युक्त हो गयी।

वीर्य या रेत का नाम ही रेणु या रेणुका है। पाँच चक्र ही उसके पाँच पुत्र हैं। सब से प्रथम अर्थात् मूलाधार - चक्र उसका ज्येष्ठ पुत्र और विशुद्धिचक्र कनिष्ठ पुत्र परशुराम है। शेष तीन चक्र तीन पुत्र हैं। यह रेणु मन के अपवित्र विचारों से ही अपवित्र हो जाती है। विकार-युक्त विचार ही मनुष्य की पवित्रता को नष्ट कर देने के लिये काफी हैं। मानसिक विचारों की विकृति से ब्राह्म तेज की तुरन्त हानि हो जाती है। पूर्ण ब्रह्मचय परिभाषा में शारीरिक किया नीचे की चीज है, मानसिक संकल्पों की पवित्रता सबसे महत्त्व की वस्तु है। काम के विचार पहले मन में प्रकट होते हैं। काम को मनसिज, मनोभव, मनोज या संकल्प-योनि कहा गया है। उसका उदय हमारे भीतरी विचारों में ही देखा जाता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिये शुद्ध विचार परम आवश्यक सञ्जीवनी हैं।

एक बार जब रेणु अपवित्र हो जाती है तब उसका पवित्र करना कितना कठिन है, यह ऊपर की कथा से मालूम होता है। प्रथम चक्र की यह सामर्थ्य नहीं है कि वे अशुद्ध रेत का पुनः पूर्ववत् शुद्ध कर सकें। इसीलिये रेणुका के पहले चार पुत्र यदि वे चाहते, तो भी जमदग्नि की इच्छानुसार अपनी माता को नवीन जीवन नहीं दे सकते थे। यह सामर्थ्य परशुराम में ही थी। अर्थात् पाचवें चक्र की शक्ति पर अधि-कार पाकर योगी अपवित्र और अशुद्ध रेणु को पुनः पवित्र बना सकता है। प्रत्येक चक्र को यदि हम भजन-क्रिया की एक एक मंजिल मानें तो पाँचवें पड़ाव को पार करने पर ही रेणु को पूर्णतया भजने में सफलता प्राप्त होती है। रेणु को भस्म करने वाली शारीरिक अग्नि ही जमदग्नि (Metabolic fire)।

शिव का वाहन वृष

शिव को वृषाङ्कन, वृषभध्वज और वृषकेतु भी कहते हैं। उनकी सबसे बड़ी विजय वृष को अपने वश में करके उस पर सवारी करना है। प्रायः जगत् के सब पुरुषों पर वृष सवारी करता है, पर शिवजी

वृष पर सवारी करते हैं। प्रश्न यह है कि जगत् में मनुष्य वृष का वाहन बना हुआ है या वृष मनुष्य का। मनुष्य अपने असली रूप में सवार है, पर अपने आपको भूलकर वह सवारी बन गया है। अपनी महिमा का ज्ञान न रहने से वह वामन बन गया है, उसके पिण्डपर वृष आरूढ़ रहता है। परन्तु जो मनुष्य आत्मज्ञान सम्पन्न है, जिसने पवित्र सङ्कल्प से काम विकारों को जीत लिया है, वही वृष पर आरूढ़ होता है। शिवजी के लिये वृष वाहन बन जाता है।

यह वृष काम है। वर्षणशील (sprinkling, fertilising) रेत को 'वृष' कहा गया है। यह वृष या काम अधोरेत करके मनुष्यों को अपने आसन से च्युत कर देता है। इस पर पैर रखकर खड़े होना महती धीरता है। इस लेख में उन वैदिक और पौराणिक प्रमाणों और उपाख्यानों के विस्तार के लिये स्थान नहीं है जिनसे वृष या वृषा के पूर्ण स्वरूप का परिचय मिलता है। सूत्ररूप यह जान लेना पर्याप्त है कि काम की ही एक संज्ञा 'वृष' है शिवजी मदन का दहन कर चुके हैं, उन्होंने काम को परास्त कर लिया है, वे अरूपहार्य योगीश्वर हैं, अतएव वृष उनका वाहन बन गया है। योगी और भोगी में यही भेद है, एक का वाहन काम है और एक स्वयं काम का वाहन है।

इस वाहन पर चढ़ने के लिये शिव को कुम्भोदर सिंह पर पैर रखना पड़ता है। कवि ने कहा है—

> कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः
> पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
> अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः
> कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥
>
> (रघुवंश २ । ३५)

अर्थात् कैलास के समान शुभ्र वर्ण वाले वृष पर जब शिवजी चढ़ना चाहते हैं, तब वे मेरी पीठ पर पैर रख कर सहारा लेते हैं, ऐसा मैं कुम्भोदर नाम शिव का अनुचर हूँ। यहाँ यह बताया गया है कि वृष पर सवारी करने अर्थात् उसे अपने अधिकार में लाने के लिए यह

आवश्यक है कि मनुष्य पहले उदार या रसनेन्द्रिय पर संयम प्राप्त कर ले। स्वाद को वश में करना ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये अनिवार्य है। जिह्वा पर अंकुश रक्खे बिना ब्रह्मचर्य की सफलता असम्भव है। विश्वामित्र को मेनका ने मक्खन खिलाकर अपने अनुराग में फँसा लिया। गीता में भी कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥

अर्थात् काम बहुत भोग (महाशन) चाहता है, यह महापाप के गर्त में फँसानेवाला है। इस महापापी पर विजय पाने के लिये कुम्भोदर पर संयम प्राप्त करना चाहिये। जिस जलतत्त्व या रस से स्वादेन्द्रिय का पोषण होता है, वही काम का अधिष्ठान है इसीलिये कामविकार और रसना में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिश्नदेव या कामी पुरुष उदर-परायण भी होते हैं। अतएव वृष पर आरुरुक्षु योगी के लिये कुम्भोदर पर पैर रखना परमावश्यक है। शिव के परिवार में सिंह और वृष विगतवैर होकर बसते हैं। शिव समता और शान्ति की मूर्ति हैं।

स्कन्द या कुमार

कुमारसम्भव-काव्य और शिवपुराण में कुमार के जन्म का विशद वर्णन है। कुमार को षडानन और षाण्मातुर कहते हैं। वे सेनानी हैं, देवसेना उनकी पत्नी है; तो भी वे सनातन ब्रह्मचारी हैं। उनके जन्म के लिये ही शिव-पार्वती का विवाह हुआ था। मयूर उनका वाहन है। उन्होंने देवताओं का सेनापति बनकर तारकासुर पर विजय पायी थी। इन सब रहस्यों का विवरण इस प्रकार है।

जिस समय देवलोग असुरों से परास्त हो गये, तब वे इन्द्र को लेकर ब्रह्माजी के पास गये—

तस्मिन् विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः।
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः॥

(कुमार० २।१)

अर्थात् तारकासुर से सताये हुए देवता इन्द्र को अगुआ बनाकर ब्रह्मलोक में गये। वहाँ उन्होंने तारकासुर के उत्पातों का विस्तृत वर्णन करने के बाद कहा कि हे देव, सेना तो हमारे पास है, पर सेनापति कोई नहीं है। इसलिए आप कृपा करके हमें एक सेनापति दीजिये। यथा—

तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये।
कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः॥
गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित्।
प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम्॥
(कुमार० २। ५१-५२)

अर्थात् हे प्रभो, उस तारकासुर की शान्ति के लिये हम लोग एक सेनापति चाहते हैं जिसको अग्रणी बनाकर इन्द्र पुनः असुरों पर विजय प्राप्त करें। ब्रह्माजी ने कहा—

केवल शिव के वीर्य में ही इतनी सामर्थ्य है कि वे तारकासुर का निरोध कर सकें, अतएव तुम उन्हीं के अंश को पार्वती के पुत्ररूप में प्राप्त करके अपना सेनानी बनाओ—

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यन्तं प्रसहेत कः
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः॥
उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः।
शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत्॥
तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः।
मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः॥
(कुमार० २। ५७, ५९, ६१)

अर्थात् नीललोहित शिव का रेत ही उस असुर का निरोध कर सकता है। संयम में ठहरे हुए शिव के मन को तुम लोग पार्वतीरूपी चुम्बक से खींच लो, जिससे शिवजी पार्वती के साथ विवाह कर लें। उन शिव का मूर्त्यन्तर तेज ही तुम्हारा सेनानी बन सकता है।

इस उपाय को जानकर देवों ने प्रयत्न किया कि शिव का पार्वती के साथ मेल हो तथा उससे जो सन्तान उत्पन्न हो वह उनकी सेना का सञ्चालन करे। शिवजी समाधिस्थ थे। समाधि की दशा में काम की आन्तरिक सत्ता नष्ट हो जाती है। अतएव जिस समय कैलास पर जाकर काम ने शिव का ध्यान भङ्ग करना चाहा, तभी शिव ने यह सोचा कि अवश्य ही बाह्य स्थिति में काम ने उन पर आक्रमण किया है। उन्होंने तुरन्त अपने मन को सँभालकर काम को भस्म कर दिया। पार्वती ने शिव को अपने रूप से लुभाना चाहा था, उनका गर्व भी खण्डित हो गया। शिवजी पुनः समाधिस्थ हो गये। पार्वती स्वयं तप करने लगीं, बड़ी उग्र तपश्चर्या के द्वारा उन्होंने अन्त में तप के प्रभाव से शिव को प्राप्त किया। जब शिवजी ब्रह्मचारी का रूप बनाकर पार्वती की परीक्षा लेने आये, तब पार्वती ने यही कहा—

तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनम्

अर्थात् तप ही शिव की प्राप्ति का साधन है। तप के द्वारा पार्वती-शक्ति पर शिव अधिकार प्राप्त करते हैं। उस तप से जो सामर्थ्य या वीर्य उत्पन्न होता है, वही स्कन्द या कुमार है। छठे चक्र को भेदने के बाद कुमार का जन्म होता है। जिस शरीर में कुमार ने जन्म नहीं लिया है वहाँ देवसेना असुरों से बराबर हारती रहती है। असुरों से दुर्जेय या अजेय बनने के लिये कुमार का जन्म आवश्यक है।

कुमार-जन्म की जो प्रक्रिया है उसको एक श्लोक में यों समझना चाहिये—

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः

(मेघदूत १ । ४३)

अर्थात् हे मेघ! देवगिरि पर सदा बसनेवाले स्कन्द को आकाश-गङ्गा के जल से सींचे हुए पुष्पों से तुम स्नान कराना। इन्द्र की सेनाओं

की रक्षा के लिये अग्नि के मुख में शिव के द्वारा क्रमशः सम्भृत होता हुआ जो सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान तेज है, वही 'स्कन्द' है। यह हम जानते हैं कि असुरों से पराजित देवसेना की रक्षा के लिये, उसको सेनापति देने के लिये शिव ने स्कन्दरूप में जन्म लिया। वह शिव का तेज अग्नि (हुतवह) के मुख में एकत्र किया गया। यह अग्नि क्या है ?

सुषुम्णा का नाम ही अग्नि है। तीनों नाडियों के नामान्तर निम्न-लिखित हैं—

इडा—गङ्गा और चन्द्र
पिङ्गला—यमुना और सूर्य
सुषुम्णा—सरस्वती और अग्नि

सुषुम्णा-प्रदेश में स्थित पाँच चक्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है। छठा आज्ञा-चक्र है। पहले चक्र को भेद कर जब योगी दूसरे में जाता है तब मानों पहले की शक्ति को भी वह दूसरे में ले जाता है। दूसरे चक्र तक जिसने सिद्धि पा ली है वह पहले और दूसरे दोनों चक्रों की शक्ति का स्वामी हो जाता है। इसी तरह छठे चक्र तक सिद्धि-प्राप्त योगी उन सब चक्रों की शक्ति का स्वामी बन जाता है। सुषुम्णा या अग्नि के छः चक्र ही वे मुख हैं जिनमें शिव का तेज क्रम से तपाया जाकर ऊपर उठता हुआ ब्रह्माण्ड में पहुँचता है। छठे चक्र में जाकर जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका नाम कुमार है अर्थात् वह ब्रह्मचर्य-सिद्धि की परमावस्था है। इसलिए कुमार को सनातन ब्रह्मचारी या सनत्कुमार (सनत् Eternal, कुमार Brahmacharin) का अवतार कहा है। जिस योगी ने कुमार को प्राप्त कर लिया है, स्वप्न में भी उसका मन असंयत विचारों से नहीं हरा जा सकता। स्वप्नगत विचारों को वश में करना महा कठिन है। अन्तर्दृष्टि (sub-conscious vision) ही तारक है। यह पुतली या तारक उस समय भी कार्य करता रहता है, अर्थात् सङ्कल्प-विकल्प में लीन रहता है, जिस समय कि बाह्य विचारों पर जाग्रत-दशा में मनुष्य अधिकार प्राप्त कर चुकता है। जाग्रत के समान ही सोते में भी जिसने परोक्ष मन पर पूर्ण विजय

प्राप्त कर ली है वही पूर्ण योगी, पूर्ण ब्रह्मचारी और सब प्रकार स्वस्थ है। जिसने अपने विचारों पर पूर्ण संयम प्राप्त कर लिया है, सोते हुए भी जिसका मन इधर-उधर नहीं डोलता, वही पूर्णतः स्वस्थ है। यह स्थिति उस योगी को अनायास मिल जाती है जिसने तप के द्वारा छः चक्रों की समस्त शक्ति और चेतना को अपने वश में कर लिया है, अर्थात् पाँच चक्रों के पञ्च विषय और छठे चक्र से सम्बद्ध सङ्कल्पों पर जिसे विजय प्राप्त हो गयी है।

षट्चक्रभेद से सेनानी कुमार का जन्म होता है। यह कुमार शिव का ही तेज या मूर्ति है। सुषुम्णा के मुख में यह तेज क्रमशः सम्भृत होता है। इसे सुषुम्णा पुत्र या अग्नि का पुत्र भी कह सकते हैं। अग्नि का देवता कृत्तिका है। कृत्तिका नक्षत्र से संयुक्त काल में जन्म लेने के कारण कुमार को कार्तिकेय भी कहा जाता है। तप के अनुकूल जो जीवनक्रम है वही अग्नि देवता से अधिष्ठित है। जिस समय अग्नि सबसे अधिक सुखावह और सौम्य हो वह कृत्तिका का समय है। षट्चक्रों में पुष्ट होने के कारण कुमार को छः मुखवाला या छः माताओं का पुत्र भी कहा जाता है। यह सत्यमेव षडानन और षाण्मातुर है। षष्ठी तिथि से कुमार को बहुत प्रेम है।

मयूर कुमार का वाहन है। मयूर और सर्पों का स्वाभाविक वैर है। परन्तु शिव के सर्प और कुमार का मयूर परस्पर वैर त्यागकर मैत्री-भाव से रहते हैं। सर्पों के विष का पान करने के लिये मयूर की आवश्यकता है। आसुरी प्राणों को यदि सर्प कहा जाय तो उनके घोर अशान्त रूप को संयम के द्वारा शान्त और सौम्य बनानेवाले प्राण मयूर हैं। मयूर को वाहन कल्पित करनेवाले कुमार ही शिव की कुण्ड-लिनी के विष को अमृत बना सकते हैं। छः चक्रों का सम्मिलित उद्गीथ या स्वर षड्ज कहलाता है। इस षड्ज स्वर से संवादिनी वाणी बोलनेवाला वाहन मयूर ही है। शिव की साधना से जन्मे हुए कुमार का वाहन बनकर मयूर कुण्डलिनी का मित्र हो जाता है। सर्प के विष का द्वेष करनेवाली मयूरी उन गरुड़ के पंखों से उत्पन्न हुई जो स्वर्ग से

अमृत का घट लाये। यहाँ स्थूल, भौतिक भावों से तात्पर्य न होकर आध्यात्मिक अर्थों का कथा रूप से संकेत करना ही इन उपाख्यान-निर्माताओं को इष्ट था। ऋग्वेद में त्रिःसप्त अर्थात् इक्कीस मयूरियों का वर्णन है—

त्रिःसप्तमयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः।
तास्ते विषं विजभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव॥
(१।१६१।१४)

अर्थात् २१ मयूरी-सात बहनें-तेरे विष को दूर ले गईं, जैसे कुम्भवाहिनी स्त्रियाँ जल को ले जाती हैं।

इस सूक्त भर में विष के दूर करने का ही वर्णन है। यूरोपीय विद्वान् इसे मन्त्र-यन्त्र मानते हैं। वस्तुतः प्राणों की विषाक्तता को योग के द्वारा शुद्ध पवित्र करके उन्हें अमृतमय बनाने का ही इन मन्त्रों में उपदेश है। सप्तशीर्षण्य प्राण ही सात बहनें हैं। सप्तप्राणों के प्रवाह के लिये पृथिवी (spinal cord), अन्तरिक्ष (bulb or medula oblongata) और द्युलोक (brain) में फैली हुई शिराएँ ही सप्तत्रिक-इक्कीस मयूरियाँ हैं जिन्होंने विष को सोख लिया है। इसी सूक्त में ९९ नदियों का वर्णन है। ये नवनवति नदियाँ भी नाड़ियाँ ही हैं जो प्राण सञ्चार की सरिताएँ हैं। इनमें जो विष है वह मधु हो जावे। अग्नि के त्रि:सप्त स्फुलिङ्ग भी प्राण ही हैं, उनमें जो विष है वह मधु हो जावे (हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार—ऋ० १।१९१।१२, १३) कुमार ने मयूर के वाहन पर आसीन होकर षट्चक्रों के साथ संवादिता या सामञ्जस्य प्राप्त करके सब विषों को मधु बना दिया।

काशी और मणिकर्णिका

काशी ज्ञान की पुरी है। वह शिव के त्रिशूल पर बसी है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना के सङ्गम से आगे काशी है अर्थात् मस्तिष्क ही काशीपुरी है। 'काशाः सन्त्यस्मिन् इति काशी' अर्थात् काश जहाँ हों वही काशी है। कुमार का जन्म इसी काश के वन में हुआ था, अतएव

मस्तिष्क ही काशीपुरी या काश वन है। श्वेत मींगी से भरे हुए मस्तिष्क के भाग ही काशरूप हैं। सहस्रदल पद्म ही काशीपुरी है। यहाँ शिव साक्षात् निवास करते हैं। स्वर्ग की नदी गङ्गा के पवित्र तट पर काशीपुरी है। मस्तिष्क की वापियों (Ventricles) में बहनेवाला अविच्छिन्न अमृत-प्रवाह ही मन्दाकिनी है जो अन्तरिक्ष में होती हुई पृथिवीलोक (spinal cord) को भी पवित्र करती है। इस सहस्रदल पद्म को मणिपद्म भी कहते हैं। वहीं के एक भाग का नाम मणिपीठ, मणितट या मणिकर्णिका है। उस मणिपद्म की एक कर्णिका मणिकर्णिका है जहाँ स्नान करने से पुनर्जन्म का खेद मिट जाता है। सहस्रकमल तक सिद्धि प्राप्त करके जो प्राण त्यागता है उसे पितृयान की संसृति में फिर नहीं आना पड़ता। यहीं योगियों का विहृतिद्वार है। इसी मणिकर्णिका को बौद्धलोग मणिपद्म कहते हैं और 'ॐ मणिपद्मे हुँ' यह मन्त्र जपते हैं। मेघदूत में कालिदास ने इसे 'मणितट' कहा है—

सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी।

(१।६०)

अर्थात् क्रीडाशैल पर शम्भु के साथ जहाँ गौरी विचरती हों वहाँ उन्हें मणितट पर चढ़ने में सहायता देने के लिये हे मेघ! तुम अपने शरीर को सोपान बना देना।

काम ही मेघ है। उसके शरीर का इससे अच्छा और क्या उपयोग हो सकता है कि उस पर पैर रखकर शिव-पार्वती मणितट पर आरोहण करें। सब लोकों के काम भावों को लेकर मेघ ऐसे लोक में उन्हें समर्पित कर देना चाहता है जहाँ शिव का साक्षात् निवास जानकर काम अपना धनुष चढ़ाने से डरता है—

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं।
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्॥

(मेघ० २।१०)

काम से शून्य लोक में समस्त काम भावों का विसर्जन ही मेघ क दूत कार्य है। अलका या कैलास ही ऐसा लोक है जहाँ मदन को भस्मा-त

वशेष करनेवाले शिवजी बसते हैं। काम शिव के तेज का पहचान गया है। शिव काम को जीतकर योगिराज बने हैं।

हमारी समस्त वासनाओं का मूल कारण काम वासना है। उसकी पवित्रता के बिना नित्यतत्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है। बुद्ध ने 'सम्बोधि' प्राप्त करने के लिए पहले 'मार' को जीता। प्रत्येक ज्ञानी और योगी को अध्यात्म-मार्ग में इस घाटी से पार होना पड़ता है। इन्द्र-वृत्र की वैदिक कथा में यही मूलतत्त्व है। वृत्रवध ही इन्द्र का महाव्रत है जिससे इन्द्र को आत्मज्ञान हुआ। शिव और काम में भी उसी तत्त्व की पुनरावृत्ति है।

सनातन योग-तत्त्वों का विवरण ही शिव का स्वरूप है। उसके यथार्थ रूप को जानकर उसकी इयत्ता का निर्वचन परम कठिन है। कवि ने कहा है —

न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ (कुमारसम्भव)

अथवा—

को हि तद्वेद यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः।
(शतपथ० ७। २। २। २०)
बहुधा ह्येवैष निविष्टः।
(जै० उ० ३। २। १३)

लोकजीवन और साहित्य

व्यक्ति, समाज, साहित्य, राष्ट्र—इन समस्त अंगों में, मत-निश्चय, मत-प्रकाशन, मत-संघर्ष और मतानुकूल वर्तने का काम जो लोग किया करते थे, उन्हें हम ऋषि कहते थे। एक युग में ऋषि दूसरे युग मे सन्त। जिस तरह सूरज और चांद का प्रकाश स्वदेशी और नहीं होता उसी तरह इस जाति के लोग स्वदेशी और विदेशी नहीं हुआ करते। हम ज्ञान नहीं देते, कोई शक्ति हमारे द्वारा ज्ञान देती है। और वह शक्ति, सूझ की परिचालिका वह ताक़त विश्व के कोने-कोने में एक सी काम कर रही है।

जब हम नये-नये बोलना सीखे थे, ऐसा बोलना जिनमें स्वरों में से अर्थ निकालते, और व्यंजनों में से वाणी, तब हम 'सूत्र' लिखते थे, 'भाज्य' होते थे। किन्तु फिर हम हर बोला हुआ लिखने लगे, और बोली के Large Scale Production—बड़ी तादाद में पैदावार होने से, सूत्र की जगह ग्रंथ लिखने लगे। पहिले हमारा क्रम था, जो मन में न समा सके, उसे डरते-डरते वाणी तक ले आना, और जो वाणी पर आकर, शत-शत के हृदय और मस्तक पर चढ़ने लगे, उसे कलम से काले आंसुओं की ईमानदारी के साथ भोजपत्रों, शिलाओं धातुपत्रों या कागजों पर रख देना। हम अब लिखते ही हैं, बोलते प्रायः नहीं हैं। बोलना अब हम उसे कहने लगे हैं, जिसके मानी, जिसके भाव, जिसके तर्क, जिसके अभिनय, जिसकी अनुभूति को हम कागज़ पर उतरा नहीं देख सकते। इसीलिये हमारी जीभ यानी वाणी, त्याज्य, वह मन-बहलाव का कौशल, वह हमारी जरूरत पूरी करने की एक इन्द्रिय मात्र रह गई है। हमारी आज की जीभ है, हमारे काग़ज़। बिजली के तार बिजली पहुँचाते हैं, नल पानी पहुँचाते हैं, और हमारी यादें, हमारी स्मृतियाँ, क़ाग़ज़ के बन्डलों से हमारी

बोली का थोक माल पहुँचाने का काम करती हैं। हम कहते हैं कि यह हमने संघर्ष में पड़कर किया है। शायद हमारा वश चलता तो हम संघर्ष में पड़कर अपने देखने, सुनने, साँस लेने आदि के स्थानों को भी बदल लेते। खैर जब-जब 'थोक' तैयारी विश्व में होती है, और जरूरत से ज्यादा माल तैयार हो जाता है तब-तब महायुद्ध जैसे विश्व विग्रह होते हैं। भौतिक माल की तैयारी के ग्रह दस-बीस वर्षों में होते हों, किन्तु बोली के माल की तैयारी के विग्रह लगातार चलते रहते हैं। सूत्र थे, तब वे मन्त्र कहलाते थे ; ग्रन्थ हुए कि उनके प्रचार की जरूरत हुई। सूरज और चाँद को कभी भी प्रकाश का विज्ञापन नहीं देना पड़ता, पानी की धारा को प्यास बुझाने की खूबी के लिए गुमास्ते नहीं रखने पड़ते, वायु को खिड़कियों और झरोकों तक से आने की इजाजत नहीं लेनी पड़ती; किन्तु वाणी आज इतनी खुली, इतनी फैली हुई, इतनी सस्ती होने पर भी, उसका पथ अवरुद्ध होगया है। पहिले अन्तर में प्रकाश भरवाणी द्वारा आये शब्द-बुद्धि की जड़ता दूर करते थे, अब हम 'जड़ता' के आवरण के लिए वाणी का कौशल-पूर्वक उपयोग करना सीख गये हैं। पहिले हम, मानव-रागों से उत्पन्न मलिनता को अपने निश्चयों पर नहीं देखते थे, अब निश्चय की मलिनता को उज्ज्वलता कहने की प्रतिभापूर्ण कलाबाजी में हमारी सरस्वती—हमारी वाणी का सजाव श्रृंगार काम में आने लगा है। पहिले हम भूमि से आकाश तक देखते थे, अब हम हमारे मस्तक में रेल के डब्बे बनाये हुए हैं, और एक डब्बे से दूसरे डब्बे को दूर मानते हैं। हम कहते हैं कि हमारा यही विस्तार है। दृष्टि की संकुचितता को विश्व का विस्तार कहना हमारी यथार्थ पर अयथार्थ का आवरण डालने की खूबी ही का नाम है। पहिले हमारी वाणी में, हमारी प्रेरणा उतरकर आती थी—तर्क से छनकर, युग की आवश्यकता से सेतिध्वनित होकर और हृदय के समपर्ण का युगों-युगों को बेध सकने वाला स्वर बनकर। अब हम प्रेरणा के अभाव को औरों की प्रेरणाएँ उधार देकर, मिश्रण करके भी जब आस्तित्व का कौशल

सजाने मे बुद्धि का उपयोग नहीं कर पाते, तब हम अपनी प्रेरणा हीनता ही को—कण के साथ घोर विश्वासघात करके भी—कण कहते हैं। जो शक्ति-जीवी हैं, जिनकी शक्ति से बुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं वे उसे 'सादगी' कहते हैं। और इन दो पाटों के बीच में साहित्य नामक कबीर रोकर कह उठता है:—

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय,
दुइ पाटन के बीचमाँ साबित बचा न कोय।

युगों-युगों में विलास का रक्त-कर वसूल करने वाली हमारी प्रेम-भावना ने, समय-समय पर सूत्र की मयूरिणी वाणी के साथ ऐसा ही व्यवहार किया है। सूझ की गति को सूझ के हृदय व कदम चलने ही को विकास कहते हैं। और विकास के पथ के लगातार शोध ही को साहित्य कहते हैं। शोध के मौलिकता के पथ के आवन्तु हम, कभी-कभी आकाश की तरह ऊँचे विचारों को व्यक्त करते हैं—हम बुरा नहीं करते। किन्तु उस समय बोली भी आसमान की तरह पहुँच के बाहर की बोलने लगते हैं। नहीं, आसमान के से विचार हों; परन्तु हम ज़मीन पर हैं, यह न भूलें। हमें जो बोलना होगा, ज़मीन की बोली में बोलना होगा। वे ज़मीन पर रहते हैं, जिनमे हम जनमे हैं, हम ज़मीन पर पैदा हुए हैं, और ज़मीन की उथल-पुथल के सन्देश-वाहक होकर ही हमें रहना है। अतः आसमान की बातें भी हम ज़मीन ही की बोली में बोलें।

जब तक संत थे, वे लोकवाणी बोलते थे, लोकवाणी लिखते थे, लोकवाणी गाते थे; और लोक-हृदय में वाणी को पहुँचाते थे जब ऋषित्व और सन्तत्व गया, तब हम शहराती ज़बान लिखने लगे। वह, जिस पर सिर रखलें, वह जिसमे गिने-चुने, शिक्षितों के मनो भाव प्रतिबिम्बित हो सकें। कल्पना में रसीला साहित्य देखने की हमारी दौड़ प्रगट करती है कि मानों हम आत्मनाश का खेल खेलते हैं। निर्माता का माता से प्रजनन-क्षेत्र में यदि कोई रिश्ता हो, तो एक

की बेटी होकर, दूसरे की पत्नी बनकर और तीसरे की माता होकर, तीनों पर अपने ढंग से समान प्यार कर सकने वाली मानवता की जननी को हम केवल विलासिनी बनाने का खेल क्यों खेल रहे हैं? रसील साहित्य की हमारी रुचि पर, प्रशंसक-समूह की मनोभावना की मक्खियाँ जब भिनकने लगती हैं, तब उस भिनक की मदुमशुमारी पर हम अपने प्रशंसकों की तादाद कूतते हैं! यह हमारा कैसा मोह है? जब हम रसीलेपन में होते हैं तब क्या हम यह व्यक्त नहीं करते कि क़लम की दूकान पर हमने जो माल सजाया है, उसकी अपेक्षा हमारे हृदय और मस्तक का कारखाना जहाँ यह माल बनता है, कितना दुर्गन्धित होगा? फिर यह राष्ट्र-निर्माणतत्व-चिन्तन, मत-निश्चय, साहित्य-साधना और समर्पण, यह सब कुछ क्या है? केवल ख़याल? और इनको छोड़ देने के बाद बाक़ी क्या बचेगा?

हम एक ख़तरा और न भूलें। एक देहाती को देखिए। हम कहते हैं कि वह बड़ा अंध-विश्वासी है, अपनी धारणाओं का क़ायदा। फिर एक शहराती देखिए। सभ्यता के नाम पर उसकी भी कुछ कठोर धारणाएँ हैं, जिन्हें वह छोड़ नहीं सकता। और यह कहना कठिन है, कि इन दो अनुदारों में कौनसा अनुदार अपनी धारणाओं से चिपके रहने में अधिक अभारतीय और अधिक हानिकारक है। इसके बीच यदि हमने इसी से साहित्यिक ज़हर की ख़ैरात बाँटी, तो रसों की जानकारी से अपरिचित ग्रामीण उस ज़हर से भले बचलें, किन्तु शहराती मध्यवित्त की बचत तो उससे हरगिज़ नहीं। जब रसीली धारणाओं से चिपकनेवाली एक पीढ़ी हम निर्माण कर चुकेंगे, तब जिस तरह समुद्र का ज्वार समुद्र ही के बेक़ाबू हो जाता है, उसी तरह वह पीढ़ी रसीले कलाकारों के भी बेक़ाबू हो जायगी और जब कलाकार जीवन की ओर लौटना चाहेगा तब रसीलेपन की रिश्वत पर जीनेवाली वह पीढ़ी एक बाग़ी सेना की तरह कलाकार के साथ लौटने से इन्कार कर देगी। क्या ख़तरे का यह व्यापार हम बन्द न करेंगे?

कलाकार ईमान और कुरुचियाँ बेंचकर—विश्व का निर्माण नहीं करता। वह तो रोटियाँ बेंचकर तेल खरीदता है और प्रणय के रात्रि-जागरण को साधना का मंत्र जागरण बनाकर, जीवन को गति देनेवाले, अपने सपने लिखा करता है। भिखारी को रोटी न मिलने से, समाज के द्वारा अपमान का अनुभव होता है, कलाकार को अपने सूझ न उठने के दुर्दिन में उससे कम वेदना और अपमान का अनुभव नहीं होता।

अमीरों का कुछ ऐसा बोझ जीवन पर आ गया है, कि ईमान बेंच-कर बाजार में खड़ी हुई कलम, अस्तित्व बचने से इन्कार करनेवाली क़लम के खिलाफ़ बगावत करती चली आ रही है। इस विषमता ने जीवन का एक ऐसा चित्र खींच दिया है कि सिर अपने तरीके से सोचने लगा और धड़ अपने तरीके से सोचने लगा और धड़......सोचने लगा। फलित ज्योतिष की भाषा में सोचें, तो मानव-विकास के ये राहु और केतु, कुग्रह की तरह विग्रहशील होकर, गृह कलह की ज्वाला—भावों, विचारों, आदर्शों, परिस्थितियों और जीवन-क्षेत्रों में जलाए हुए हैं। ऐसा महामानव चाहिये जो इस धड़ और शिर को मिलाकर खंडित-मानव में एक अखंड-जीवन के महाराष्ट्र का निर्माण कर सके। ज्योतिष की भाषा में ही थोड़ा और सोचें तो हमारी धारणा देखिये कि हमारे भाग्य के और जीवन-व्यापार के संचालन में हम पर अन्तरिक्ष के सितारों का असर पड़ता है; किन्तु हमारे ही पड़ोस में तड़पते हुए हमारे जीवन-साथी का असर हम पर नहीं पड़ता। जिस मोमबत्ती के प्रकाश से अन्धकार में हमारा पथ-दर्शन होता है, उसके यही अपराध हैं कि एक तो वह पैसे में ही मिलती है, दूसरे वह हमारी ही फूँक से बुझ जाती है, तीसरे वह हमारी जेब में रह लेती है, और चौथे वह ज्वालामयी होकर भी इतनी ठण्डी है, कि हमारी जरूरत के बिना कभी जल नहीं पड़ती। शायद इसीलिये, हम उसके द्वारा होनेवाले पथ-सञ्चालन के एहसान को नहीं मानते। हमारे भाग्य का निर्माण और जीवन का पथ-सञ्चालन, हम सोचते हैं कि आसमान के तारे करते हैं। जीवन के समर्पण, सेवा और अल्पत्व के

प्रति हमारी यह क्षुद्रता, विश्व में बड़प्पन के नाम से परिचित है। गा,, जहाँ प्रखर सूर्य की किरणों में बड़े बारूदखाने काम करते हैं, वहाँ एक मोमबत्ती लेकर नहीं जाने दिया जाता ! क्या गरीबी का यह गौरव हम कभी अनुभव करेंगे ?

सूझ का यह आडम्बर नहीं शोभता कि वह अमीर होकर रहे। न उसका यही बाना हो सकता है कि वह अपने ही घेरे में मौलिक रह ले। चाहे कभी जीवन से आगे रहे, कभी पीछे किन्तु सूझ तो जीवन की छाया ही है। वह जीवन की एक उन्मेषमयी माया ही है। अतः हम जीवन को देखें कि जब वह पथ भूलता है अथवा वह पथगामी राही होता है, तब वह न जाने कितनों की हद की जमीनों पर पैर रखता, अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचा करता है, और जब कृष्ण बनकर कारागार में जन्म लेता है, बुद्ध बनकर राजत्व को तिलांजलि देता हुआ फ़क़ीरी लेता है, मुहम्मद बनकर अपने ही द्वारा निर्मित ज़मान के लोगों से तिरस्कार का उपहार पा अपने स्थान से भागने को बाध्य होता है, ईसा के रूप में अपने पूजनेवालों के द्वारा शूली पर लटकाया जाता है, तब सुविधा का लालच और धनिकता का मोह प्रतिभा के पुजारी में क्यों हो ?

विश्व की रचना में आपने एक बात देखी होगी। भूमि का नाम है विश्वम्भरा। भूमि से जो उपजता है या भूमि की उपज पर जो प्राणी जीते हैं, उन्हें खा कर ही विश्व का पोषण होता है। किन्तु "सभ्यता" नामक दानव के विकास ने जमीन पर महल, डामर की और पत्थर की सहस्र-सहस्र मील की सड़कें, रेल की लाइनें, खेल के मैदान और मौज मारने के भवन बनवा दिये हैं। आप देखें कि इन चीजों ने भूमि की "उपजाऊ" सतह को उपज-हीन बना दिया है। यदि सभ्यता की आवश्यकताएँ भूमि को इसी प्रकार निकम्मी बनाती जायें तो, भूमि केवल हमारी आत्मघाती सभ्यता की सनक में अनुपजाऊ हो जायगी। ठीक इसी तरह सूझ के क्षेत्रों को, धन, महत्वाकांक्षा, स्वार्थ और मूर्खता ने प्रतिभाहीनता से भर दिया है। विश्व के प्रारम्भ से, स्पष्ट बोलने और

स्थापित व्यवस्था में परिवर्तन की बात कहने पर मानव-प्रतिभा दण्ड पाती रही है। माना कि प्रतिभा के दण्ड के दिन जातियों के त्यौहार बने। किन्तु इससे प्रतिभा का ऊसर होना, प्रतिभा की जमीन का पथरीला बनाया जाना कहाँ रुका? सूझ की उपेक्षा करके, सूझ को दण्डित करके, हमने आडम्बर, आकांक्षा और प्रसिद्धि के जो प्रासाद खड़े कर रखे हैं, उन अर्थहीन व्यक्तियों, संस्थाओं और मान्यताओं ने प्रतिभा को अनुपजाऊ बना दिया है। क्या सूझ के खेतों में बोये हुए आलू प्रतिभाशीलों को जीने देंगे? अतः आप यत्न करें और रेल के पथिकों और महत्वाकांक्षा के राहगीरों से आप कहें कि प्रतिभा के संचार के लिये सुरक्षित जमीन पर 'अपने स्वार्थ' आदर्शहीन बहुमत और स्वाधीनता-विरोधी षडयन्त्र के झंडे न गाड़ें। पशुता की ओर मानव को ले जाने वाले सभ्यता के इस उपहार से यदि मानव बचाया जा सके तो अमित उपकार हो।

हम यह भी न भूलें कि निश्चय की प्रखरता कलाकार का बीभत्स स्वरूप नहीं है। शस्त्र क्रिया करनेवाला उपचारक अंग-अंग के काट डालने के अपने निश्चय को, प्राणदान की ममता को कोमलता के तक़ाज़े पर ही काम में लाता है। उस समय उसके शस्त्र बड़े बारीक और उसका हाथ बड़ा न जुक—बड़ा कोमल होता है।

मानवरूपी बनमानुस में कला की अवतारणा के ये ही क्षण होते हैं। इन्हीं क्षणों में उसे सिद्ध करना होता है कि वह कलाकार है। उसकी आँखों में परिणाम है, निश्चय में भविष्य, और अंगुलियों में अमरता खेल रही है। उपचारक के छुरे से, रक्त की लाल बूंद टपककर शक्ति क्षीण भले करे, किन्तु कलाकार की क़लम से झरनेवाली हृदय के खून की संकेतवाहिका बूँदें, मानव के भाग्य और प्रयत्न को लाली प्रदान करती है। यह काम मध्यवित्त लोगों द्वारा विकारों की सौगात बांटने से न होगा। केवल जवानों के भिनकते बे-इख्तियार क्षणों का लिखना ही उचित न होगा। हमें लोक-जीवन लिखना होगा।

हम शहराती साहित्य क्यों लिखते हैं? क्या हम हार मान चुके हैं कि लोक-जीवन नहीं लिख सकते? हम यह गर्व न करें कि हमारी रचनाओं ने हमें सुख से जीवन बिताना सुलभ कर दिया। सुविधा की यह प्राप्ति लक्ष्मी का आगमन नहीं। शराब और अफ़ीम बेचनेवालों ने भी तो अपनी सम्पत्ति से महल खड़े कर रखे हैं। विवाहों, त्योहारों और चक्कियों आदि अवसरों पर गाये जानेवाले गीत ही आज तो हमारा 'लोक-साहित्य' है और हम उससे काफी दूर हैं। हाँ "तुलसीदास आस रघुवर की;" "सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को;" 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर" और "कहत कबीर सुनो भाई साधो" के रूप में एक साहित्य लोक-जीवन तक पहुँचा था। शताब्दियाँ हुईं कि अब हम उससे अधिक कुछ नहीं पहुँचा पाते और जब हम देखते हैं कि गुलाब की डाल पर परसों की बाड़ी कल कली हो गयी है, कल की कली आज खिल गई है, और आज फूल बनकर अपने उन्मेष की, कीचड़ को चूसती, मिट्टी और ढेलों में मस्तक उठाती तथा काँटों की टहनी पर गुरुत्वाकर्षण से विद्रोह करती हुई, ताकत से सिर उठाकर, फूलकर आज लम्बी यात्रा समाप्त कर पँखुड़ी-पँखुड़ी होकर धूल में मिल जाने को बाध्य है, तब भी हम यह अनुभव क्यों नहीं करते कि लोक-जीवन के पास साहित्य पहुँचाने में शताब्दियाँ तो दूर अब विलम्ब में दिन भी नहीं गुज़रने दिये जा सकते। प्राचीन साहित्य हृदय का सन्तोष बनकर भले रह ले, वह लोक-जीवन की नवीन रूप से उपस्थित समस्याओं को नहीं सुलझा सकता।

बैठे-बैठे के ये विचार, यदि आप पसन्द करें तो पढ़ें; पसन्द न आयें, छोड़ दें।

—माखनलाल चतुर्वेदी

साहित्य का मापदण्ड

कैसा साहित्य ?

आज हमारे साहित्य-स्रष्टाओं के सम्मुख ये प्रश्न होने चाहियें—हम कैसा साहित्य निर्माण करें ? मानव को उन्नत करने का ? तो उन्नति क्या है ? और हमारे साहित्य-निर्माता अपने हृदय-अर्णव-मन्थन में तल्लीन होकर, उत्तर अमृत के घट को ऊपर लाने का और उस अमृत से मानवता को जीवनदान देने का प्रयत्न करें। सभ्यता, उन्नति, विकास, प्रगति, ये अच्छे शब्द हैं। प्रेरणा-दायक भी हैं। किन्तु वास्तविक अथ समझे बिना इन शब्दों से जो प्रेरणा मिलेगी वह अशुद्ध, अमङ्गलकारिणी एवं नाशक होगी। पृथ्वी भर के विचारकों के ग्रन्थों का मनन कर लीजिए और आप पायँगे कि उन्नति एवं सभ्य मानव की परिभाषा वही है और एक मात्र वही है जो आपके देश के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने पुरातनकाल में और गांधी ने इस काल में हमारे सामने रक्खी है। मानव उन्नति का एक मात्र मानदण्ड है—मनोविकारों पर आधिपत्य प्राप्त कर सकने की क्षमता। एक मानव उसी सीमा तक उन्नत एवं सभ्य है, जिस सीमा तक उसने अपने मनोविकारों को, अपने काम को, क्रोध को मोह को, मद को, मत्सर को, घृणा को, विद्वेष को अपने अधीन कर लिया है। इसी प्रकार एक समाज, एक राष्ट्र उसी सीमा तक सभ्य कहा जा सकता है, जिस सीमा तक उसने सामूहिक रूप से अपने विकारों को संयम एवं उन्नत करना सीखा है। क्योंकि अन्ततोगत्वा इसी तरह मानव ऊँचा उठता है, यदि मानव-उन्नति का यह मापदण्ड ठीक है, यदि मनोविकारों का संयत एवं उन्नत करना ही मानव-सभ्यता एवं मानव-कल्याण का एकमात्र साधन है, तो फिर सत साहित्यकार मनोविकारों को, निम्न स्तर पर लुढ़कने वाले विकारों को, उभारने वाला साहित्य कैसे निर्मित कर सकता है ? दूसरे शब्दों में घृणा, विद्वेश एवं हिंसा वृत्तिमूलक साहित्यक का निर्माण, युगधर्म किंवा

किसी वाद के नाम पर कैसे उचित ठहराया जा सकता है! स्मरण रखिये, मेरे इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि सत्साहित्य-स्रष्टा इन मनोविकारों का, इनके द्वारा उत्पन्न सामाजिक एवं वैयक्तिक उलझनों का, यथावत् सुन्दर,हृदय-ग्राही वर्णन नहीं करेगा—साहित्य में इनका स्थान तो रहेगा ही। क्योंकि इनके बिना मानव काव्य, मानव समाज का स्वरूप सम्मुख लाया ही नहीं जा सकता। परन्तु मानव-कल्याणकारी साहित्य मे सदा इनके दुष्परिणामों में से जन समूह को सचेत रहने का सन्देश मिलते रहना चाहिए। ये विचार, मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक, अत्यन्त विनीत भाव से, साहित्य-स्रष्टाओं के एक तुच्छ सेवक होने के नाते, हिन्दी भाषा के साहित्यकों के सम्मुख रखने का साहस कर रहा हूँ। साहित्य-महारथी इन पर विचार करें—यही प्रार्थना है।

गाँधी युग

मेरा अपना ऐसा विश्वास है कि रवि ठाकुर के महान् व्यक्तित्व एवं उनकी महत्तर साहित्य-साधना से सब भारतीय भाषाओं के साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। हिन्दी भाषा के तत्कालीन काव्य-कहानी-उपन्यास-साहित्य पर भी रवि ठाकुर का प्रभाव पड़ा है। विदेशी साहित्य से जो हमारा सम्पर्क इधर बढ़ा, रूसी, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश-साहित्य से जो हमारा सम्पर्क हुआ, उसने भी हमारी विचार-धारा को प्रभावित किया इस प्रकार गत पच्चीस वर्षों से अपनी हिन्द-भाषा के साहित्य में हम एक विशेष प्रकार की विस्तार-रुचि को प्रविष्ट होते देख रहे हैं। इस विज्ञान-युग के नये विचार और चमत्कारों ने भी हमें अछूता नहीं छोड़ा है और इन सब के अतिरिक्त हमारे साहित्य-निर्माण पर प्रभाव पड़ा है। उस एक लँगोटी वाले व्यक्ति का जिसके एक-एक चरण निक्षेप ने देश की चेतना को अधिकाधिक उद्दीप्त एवं उद्बुद्ध किया है। हमारे देश का यह युग गांधी युग नाम से विख्यात है। इस युग में हमने शताब्दियों की अपनी शृङ्खलाओं के—रूढ़िमूलक; अवि-चारपूर्ण, प्राणान्तक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक शृङ्खलाओं को खण्डित होते

देखा है। खण्डित होते समय की—उनकी झनझनाहट ने हमारे मन एवं हृदयों में एक अभिनव सिहरन उत्पन्न की है। हमारे प्राण-पखेरू ने अपने अनिमेष नयनों से असीम आकाश को नापने और अपने शताब्दियों के परिपाटी में पिञ्जर-बद्ध, किन्तु अब उन्मुक्त पङ्खों से दिगदिगन्त को अतिलंघित करने का साहस किया है। और आज के हमारे साहित्य में इस उड़ान की अस्पष्ट किन्तु निश्चित, आकुलता के दर्शन हो रहे हैं। हमारे साहित्य पर, हमारे काव्य, उपन्यास, कथा-साहित्य पर, हमारे निबन्ध एवं आलोचना-साहित्य पर गान्धी के महामहिम व्यक्तित्व की, उनकी प्रचण्ड कर्मठता की, उनके सनातन किन्तु नित नव सिद्धान्तों की अमिट छाप पड़ी है। गाँधी के सहस्र-सहस्र अजस्र बलिदानों ने देश को अनेक वरदान दिये हैं। हमारा साहित्य भी गाँधी के वरदानों का प्रसाद प्राप्त कर रहा है। भारतवर्ष के जन-समूह को भारत के आबाल-वृद्धों को, भारत की नारियों को, भारत के विभिन्न धर्मावलम्बी जनों को, भारतवर्ष के तृणपल्लवों, रजकणों एवं यहाँ तक कि अनिलाम्बर को गान्धी ने विद्रोही बनाया हिन्दी भाषा के साहित्य में जो आशावादिता पूर्ण विद्रोह की अभिव्यक्ति है, वह गाँधी की देन है। जिस 'अणोअणीयान् महतो महीयान' परम तपस्वी नरोत्तम गाँधी ने 'जी हाँ' कहते रहनेवाले इस देश को कदापि नहीं !!! कहने का दुर्दमनीय साहस प्रदान करके मानव-समाज के इतिहास में एक अघटितपूर्व अद्भुत राष्ट्रीय क्रान्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित की, उसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कैसे न पड़ता ? आज उस प्रभाव का चित्र हम अपने साहित्य के प्रत्येक अङ्ग पर देख सकते हैं।

श्रेयस्कर तत्व

परन्तु हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि युग-धर्म के प्रभाव से यद्यपि साहित्य न तो अस्पष्ट रहता ही है और न रक्खा ही जा सकता है। तथापि साहित्य में युग-धर्म का वही तत्व श्रेयस्कर है, जो शाश्वत, सनातन, चिरकल्याणकर होता है। मानव एक युग नहीं,

युग-युग का कल्पों एवं मन्वन्तर का, संचित सांस्कृतिक प्रतीक है अतः साहित्यकारों को युग-विशेष के क्षणिक आवेश से पूर्णतः अभिभूत नहीं होना चाहिए। आज इस प्रश्न के उठाने की मैं कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करता कि साहित्यिक कृतियों का निर्माण सोद्देश्य हो, उद्देश्य को, लक्ष्य को लेकर हो, अथवा निरुद्देश्य हो। वास्तव में तो बात यह है सोद्देश्य और निरुद्देश्य ये ही भ्रान्ति-उत्पादक हैं। आखिर सोद्देश्य कार्य वही तो हैं न, जो समझ-बूझ कर, एक उद्देश्य-विशेष को सामने रख कर किया जाय? और निरुद्देश्य कार्य वह, जो यों ही अपने आप अनायास, बिना सोच-विचार के हो जाय? यदि यह परिभाषा ठीक है तो आप देखेंगे कि मानव के बहुत से कार्य, जो बिना सोचे-विचारे, अपने आप यन्त्रवत् होते हैं, वे भी सोद्देश्य हैं। आँखों का अपने आप झँप जाना, ठण्ड में दाँतों का किटकिटाना आदि कार्य यन्त्रवत् होते हैं, फिर भी उद्देश्यपूर्ण हैं। इसी तरह जिसे हम निरुद्देश्य साहित्य-निर्माण कहते हैं वह भी उद्देश्यमय हो सकता है। वास्तव में साहित्य निर्माण में जहाँ कला-कौशलात्मक नाप-तौल का विचार रहता है, कहाँ किस दिशा की ओर साहित्यकार जाना चाहता है, इसका निश्चय भी सामने रहता है। फिर भी प्रत्येक साहित्य-प्रणेता यह जानता है कि बहुधा लेखनी, जैसे बरबस-सी चलती रहती है और इस प्रकार वह एक अज्ञेय, प्रेरणा के अस्पृश्य एवं अदृष्ट अस्तित्व को मानो प्रकट करती है। सत् साहित्य का निर्माण अज्ञेय प्रेरणामूलक होता है। इस ध्रुव सत्य को जो भी मानव अस्वीकृत करता है वह मेरी सम्मति में या तो स्वयं उस प्रेरणा के अनुभव से रहित हैं, या वह दुराग्रही हैं।

सीमाओं से परे हैं

मेरा सदा से यह विचार रहा है और आज भी है कि साहित्य किसी वाद-विशेष की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। प्रगतिवाद या युग-धर्मवाद, या श्रेणीवाद अथवा विचार विशेषवाद का प्रतिपादक साहित्य ही साहित्य है—ऐसा सोचने वाले अपने ऊपर और

अन्यों पर भी अन्याय करते हैं, जैसा कि मैं एक बार पहले कह चुका हूँ।—यह कहना कि विचार-विशेष का प्रतिपादक होने के कारण गोर्की ही साहित्यकार है और उक्त-विचार-विशेष का प्रतिपादक न होने के कारण रवीन्द्र ठाकुर साहित्य-स्रष्टा नहीं है—न केवल हठधर्मी ही है, वरन् एक अविचार भी है। सत् साहित्य वह है, जो मानव के कल्याण-साधन में सहायक हो सके और यह कहना कि श्रेणी-चेतना प्रेरक साहित्य ही मानव-कल्याण साधन में समर्थ है, तो यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो मानव कल्याण की अत्यन्त सीमित परिधि में आबद्ध कर देता है। श्रेणीचेतना की उभारवाला साहित्य भी सत् साहित्य हो सकता है। परन्तु इसके विपरीत, मानव को केवल आर्थिक श्रेणी में आबद्ध न करके जो साहित्य मानव के व्यक्तिगत को ऊँची स्तर पर उठाने की प्रेरणा प्रदान करे, वह भी तो सत् साहित्य ही है। यदि अपने दुराग्रह के कारण हम इस स्पष्ट सत्य को स्वीकृत नहीं करते तो हम अपने साहित्य को लाभान्वित, परिष्कृत, एवं प्राणयुक्त बनाने में समर्थ न होंगे।

आखिर इस द्विपद मानव को और उसके कल्याण को किसी भी युग-धर्म के बाद-विशेष के चौखटे में कैसे जकड़ा जा सकता है —

"चिर जीवन, इक जनम में कैसे बाँध्यो जाय?
किमि अनन्त आकाश यह अञ्जलि बीच समाय?"

जिस मानव की जड़ें इतनी गहरी हैं कि मन्वन्तर भी उसकी थाह पाने के लिए इस काल-अर्णव में डुबकी लगाते सकुचाते हैं, उस मानव को और उसके कल्याण को आप एक युग के क्षणिक धर्म में सीमिति करेंगे—ऐसी भूल न कीजिए। प्रथम तो इसलिए कि आप ऐसा कर न सकेंगे—अर्थात् आपके प्रयत्न निष्फल होंगे, व्यर्थ होंगे। द्वितीय, इस कारण भी कि ऐसे अदूरदर्शितापूर्ण प्रयत्न मानव का अकल्याण करेंगे। स्मरण रखिये, आज का विज्ञान, भुजा उठाकर उच्च स्वर से यह घोषित कर रहा है कि भौतिक जगत् में भी इति नैश्चित्य का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। ऐसी अवस्था में चेतन जगत् में, साहित्यक निर्माण के सदृश अज्ञेय प्रेरणामूलक विषय में, युग-वाद के इतिनैश्चित्य को

समाविष्ट करने का प्रयत्न करना न केवल उपहासास्पद ही है, वरन् अहितकर भी है।

क्या यही मार्ग है

निःसन्देह, मैं युग धर्म की आवश्यकताओं को अपने साहित्य में अभिव्यक्त होने देने का प्रबल पक्षपाती हूँ। साहित्य को मैं निर्माता के स्वान्तःसुखाय विसृष्ट होने के सिद्धान्त को मानते हुए भी यह भी मानता हूँ कि सुसंस्कृत, गहन अनुभूतिशील, मैत्र, करुण साहित्यकार का अन्तःकरण युग की आवश्यकताओं को प्रकट किये बिना सुखानुभव कर ही नहीं सकता। परन्तु "युग-धर्म, कह-कह कर अपने मस्तिष्क को, अपने हृदय को, अपने विचारों को, अपनी भावनाओं को विकृत करने की आवश्यकता नहीं है। मैं एक अत्यन्त दुर्बल द्विपद प्राणी हूँ। पर आज मेरे मन में प्रश्न उठता है—क्या हिंसा उद्दीपनात्मक अभिव्यक्ति मानव-समाज का कल्याण-साधन कर सकेगी। मैं स्वयं अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करने में अपनी नितान्त असमर्थता अनुभव करता हूँ। फिर भी गत भूमण्डल-व्यापी महायुद्ध की विभीषिकाओं का किञ्चित्मात्र ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त मैं पूछ उठता हूँ—यही मुक्ति का, मानव-कल्याण का जनगण मङ्गल का मार्ग है? क्या हिरोशिमा की दानवता की ओर मानव को ले जाना ही श्रेयस्कर है? क्या घृणा, विद्वेष, ईर्षा, मत्सर, हिंसा के आधार पर इस मानव का उद्बोधन करना ही युग-धर्म है? नैतिक दृष्टतया मैं दुर्बल जन इन प्रश्नों का क्या उत्तर दूँ। आप स्वयं सोचिए, स्वयं विचार कीजिये, चार्ल्स रीड के शब्दों में, अपने आत्म-चिन्तन के गहन कूप में अपने प्रश्न-घट को विचार-रज्जु में फँसा कर डालिये और देखिये कि उस कुएँ से कौन सा जल निकलता है—विद्वेष का उबलता हुआ खारा पानी या अनुद्वेग-कर शान्ति का शीतल जल?

साहित्य का उद्देश्य यदि मानव को उन्नत करना है, तब प्रश्न उठता है, मानव की उन्नति कहते किसे हैं? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मानव-सभ्यता, मानव-उन्नति क्या केवल आर्थिक संचय एवं विकास

में निहित है? फिर चाहे वह आर्थिक संचय या आर्थिक विकास व्यक्तिगत न होकर समाजगत अथवा राष्ट्रगत ही क्यों न हो, पर प्रश्न तो यह है कि मानव की सभ्यता का मानदण्ड क्या केवल आर्थिक विकास ही है? क्या इसी से हम उसकी उन्नति को नापेंगे। हाँ, आज तो विशेष प्रकार के कपड़े पहनने वाला, विशेष प्रकार के वाहनों का उपयोग करने वाला, विशेष प्रकार की यान्त्रिकता से सुसज्जित मानव या मानव-समाज या राष्ट्र, सभ्य एवं उन्नत समझा जाता है। आज तो ऐसा लगता है, जैसे किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को उन्नत कहलाने के लिए दर्जी-निर्मित एवं लुहार-निर्मित व्यक्ति अथवा समूह बनना आवश्यक है। वास्तव में विज्ञान ने हम को—मानवता को—महाप्रसाद दिया है। प्रकृति के दुर्गम गर्भ में बैठकर मानव ने अखण्ड तपश्चर्या करके यह विज्ञान सम्पदा जगत् को दी है। मैं इसका निरादर नहीं करता। मैं इस चमत्कारपूर्ण प्राप्ति के सम्मुख श्रद्धा से नतमस्तक हो कर मानवता के उन बुद्धि वैभवशाली विज्ञानियों का स्तवन करता हूँ, जिनके संयुक्त प्रयत्नों से केवल, आज भूमिरिङ्गणाकार मानव गगन-विहारी बन गया है। पर फिर भी प्रश्न तो उठता ही है—क्या यही सभ्यता है? और हृदय में हूक उठती है, एक असन्तोष उत्पन्न होता है और मन कह उठता है—न इति!

—श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

साहित्य-विटप

वैष्णव होने के कारण मुझ में साहित्य के मन्दिर में स्थित शालिग्राम की छोटी-बड़ी बटियों में समान भक्ति है। उनके सम्बन्ध में भेद-बुद्धि रखना धर्म का अपमान होगा। भक्तों में भेद-बुद्धि पाप है, किन्तु देवताओं में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े की भावना भी स्वाभाविक है। देवताओं और मनुष्यों के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने वाली और उनके प्रति हमारे घोर मानवी हृदय में सहानुभूति और समवेदना उत्पन्न करने वाली उनकी यही दुर्बलता है। हमारे साहित्यक देवता भी इस देव-सुलभ गुण से वंचित नहीं हैं।

मैंने देखा है कि साहित्याकाश के ये सूर्य और चन्द्रमा; ये अरुन्धती सप्तर्षि और ध्रुव; ये बुध, मंगल, शुक्र, बृहस्पति और शनि उन लघु लघुतर और लघुतम टिमटिमाते हुए तारों को, उन असंख्य नक्षत्रों को, जिनके बिना रजनी निष्प्रभ हो जायगी और जिनके बिना चन्द्रमा विधुर हो जायँगे—हीन दृष्टि से देखते हैं। वे उन्हें निम्न कोटि का जीव समझते हैं जो स्वप्निल साहित्य-स्वर्ग के स्वर्णिम द्वार के पास फटकने के योग्य नहीं। इनमें कोई-कोई तो अपनी सम्मति दुर्वासा के समान ओजमयी भाषा में, और कोई-कोई कवि-सुलभ अभिधा, व्यंजना, ध्वनि, उपमा, कूट या कटाक्ष द्वारा प्रकट करते हैं।

उनसे मेरा निवेदन है, हम इस साहित्य रूपी विटप के अज्ञात असम्मानित, अनभिनन्दित पल्लव, और आप कमनीय, प्रस्फुटित, मदिर-गन्ध, नयनाभिराम कुसुम हैं! किन्तु हम वह हैं जिनके बिना यह साहित्य-विटप ठूँठ रह जायगा। पतझर में पत्र-हीन ठूँठ केवल विकृत मस्तिष्क को ही आकर्षित करता है। पल्लवों के बिना वृक्ष मानों वसन-हीन हो लज्जा से स्तब्ध होकर सुषुप्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। पल्लव हीन प्रकृति—"बिधु बदनी सब भाँति सँवारी, सोह न यथा बसन बिनु नारी" की तरह मालूम पड़ती है।

जब नवजात शिशु के समान हमारा रक्तिम कलेवर संसार के सामने आता है, जब रक्ताभ और ताम्र वर्ण किसलयों से ठूँठ ढक जाता है, तब प्रकृति मानो नया परिधान धारण कर स-वसना गृह-कामिनी की भाँति शोभित होकर निखर उठती है। साहित्य विटप के हम नगण्य और असंख्य पल्लव हैं। हम पल्लव (श्रीनारायण चतुर्वेदी सरीखे लेखक और श्रीवर तथा श्री विनोद सरीखे कवि) इस साहित्य-विटप को समाज रूपी वातावरण और वायुमंडल से जीवनदायिनी वायु खींच कर उसे साँस लेने में सहायता देते हैं जिससे वह समाज की प्राणदायिनी शक्ति पाकर जीवित रह सके और आप ऐसे रमणीय कुसुमों को उत्पन्न कर सके। हम पल्लव उसकी शोभा ही नहीं बढ़ाते, उसे प्राण ही नहीं देते, हम उसे संसार में अभिनंदनीय और वंदनीय भी बनाते हैं। क्या पल्लव हीन ठूंठ "दीरघ दाघ निदाघ" में किसी थके बटोही को शीतलता और विश्राम दे सका है? क्या हमारे बिना विटप में सुखमय छाया देने की शक्ति आ सकती है? क्या पुष्प-मण्डित किन्तु पल्लव-हीन करील ने किसी त्रस्त बटोही को—सिवाय उसके अंग क्षत-विक्षत करने और उसके वस्त्रों को नोचने के—कभी आश्रय भी दिया है? यही नहीं, यदि हम विटप को आच्छादित न करें तो क्या सहस्रों सुन्दर शुक, पिक, कपोत, केकी आकर उसमें अपना नीड़ बना सकेंगे? संभव है उसमें काक, गृद्ध और चील भी रहते हों। किन्तु वे भी तो आखिर जीव ही हैं। उनको हम आश्रय से कैसे वंचित करें? हम तो समान रूप से भलों—बुरों को आश्रय देते हैं। पर ठूंठ अपने कोटरों में केवल शृगालों और सर्पों को ही आश्रय देता है, और हाँ, रात्रि में ठूँठ पर बैठकर उलूक पक्षी सुकुमार और कोमल, हृदया कामिनियों तथा प्रकृत भीरु बालकों को अपनी हृदय-विदारक चीत्कार से त्रस्त अवश्य कर सकता है।

हम पल्लव हैं। किन्तु न हम हीन हैं, न दीन और न दयनीय। बिना हमारे बन्दनवार असम्भव हैं, और जब तक हम पंच-पल्लवों के रूप में न जा विराजें, कोई भी मांगलिक कृत्य सम्भव नहीं। हम अवश्य ही वसंत की श्री हैं किन्तु हमें वसन्त की श्रीवृद्धि करने का अभिमान नहीं है। हम

इतने ही से सन्तुष्ट हैं कि आश्रय हीन दीन जनों की पर्णकुटी छाकर हम उनको प्रकृति के कोप से बचाते हैं। यदि हमने पुण्य अर्जन किया है तो यही कि हम भगवान् राम की पर्णकुटी बना सके, और यदि भविष्य में पुण्य प्राप्त होना है तो हम कितने ही वशिष्ठ और भारद्वाज की पर्ण-शाला बना सकेंगे। सेवा का अवसर तो हमें मिलता ही रहता है। हम चाहे हरे हों और चाहे सूख जाँय—दीन व्यक्ति और गृहस्थ तथा धनिक भी हमारे ही दोने और पत्तल बनाकर आगत अथितियों का सत्कार कर पाते हैं। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर हम अपने को पशुओं तक को समर्पित करके उनके प्राणों की रक्षा करते हैं। इतने ही से हमारा जीवन धन्य है। और अपनी इसी नम्रता, विनय और सेवा के फल से तुलसीदल के रूप में हम "पवित्राणाम् पवित्रंयो मंगलानां च मंगलम्" माने जाकर आसन्न मृत्यु प्राणियों के मुख में गङ्गाजल के साथ छोड़े जाते और उनकी मुक्ति में सहायक होते हैं।

हम–पल्लव–उपयोगिता, सेवा और नम्रता की मूर्ति हैं। कभी-कभी नम्रता का 'फ़िट' आने पर आप में से भी कोई-कोई अपने को पल्लव अथवा पल्लिविनी घोषित करते हैं। किन्तु कुसुमों में नम्रता ठहर ही कैसे सकती है? उन्हें तो पत्तियों के ऊपर ऐंठकर खड़े होने और वहाँ से—ऊपरीखण्ड से,–अपनी रूप-राशि प्रकाशित और विज्ञापित करने में ही आनंद आता है। हाँ, कभी-कभी हम पल्लवों का गवाक्ष बनाकर आप संसार को झाँका करते और झाँकी दिखलाया करते हैं, और कभी-कभी समालोचक रूपी निठुर माली की निगाह और उसके क्रूरकर्मा हाथों से बचने के लिए हमारी ओट में छिप भी जाते हैं। किन्तु हम आपकी महानता मानते हैं। पारिजात, कमल, चम्पा, माधवी, मोंगरा गुलाब के रूप में ही नहीं, आप प्रत्येक रूप में देवताओं तक को प्रिय हैं। चाहे धतूरे ही के क्यों न हों, कुसुम होते ही आपको देवता के सिर पर चढ़ने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। औरों के सिर चढ़ना आपको इतना प्रिय है कि आप विवेक शून्य होकर देवता से लेकर चौराहे के पीर तक पर—कहाँ तक कहें—शव पर भी चढ़ने को सदैव

तैयार रहते हैं। आप इसका गर्व न करें। विल्व पत्र और तुलसीदल के रूप में हम भी भूत भावन विश्वेश्वर विश्वनाथ की और आनन्द-कन्द व्रजचन्द की पूजा में चढ़ाए जाते हैं। किंतु हम केवल सत्पात्र को ही यह अधिकार देते हैं। हमारे बबूल और नीम के पत्ते आपके धतूरे के फूल की तरह औरों पर चढ़ने का हास्यास्पद दुःसाहस नहीं करते।

हम मानते हैं कि कामिनियों के शृङ्गार के आप अन्यतम साधन हैं। विलास-प्रिय लोगों के आप आधार हैं। आपका कलेवर कमनीय है, आपका स्वरूप मनोरम और नयनाभिराम है। आप प्रकृति बधूटी के शृङ्गार हैं। आप कामिनियों की वेणी में फण-मणि का भ्रम उत्पन्न करते हैं। उनकी कोमल कलाइयों को दबाते और उनके सुर दुर्लभ गले में घेरा डालकर उनका आलिंगन करते हैं। यही देखकर समझदार लोगों ने कहा था कि जहाँ रवि की भी पहुँच नहीं होती वहाँ आप पहुँच जाते हैं। पुष्प शैय्या आप से ही सार्थक होती है। सन्ध्या के समय चौक में घूमते और यौवन मद से मतवाले, आपको गले में डालकर ही जवानी के जीवन को सफल समझते हैं। और पाश्चात्य सभ्यता से दंशित लोग, यद्यपि इन लोगों की तरह आपके निकट शारीरिक सम्पर्क रखना सभ्योचित नहीं समझते फिर भी, अपने गोल कमरों में और खाने की मेजों पर शोभा के लिए आपको मूल्यवान और सुन्दर पात्रों में रख मानों इस बात की घोषणा करते हैं कि सभ्य समाज के जीवन में आपका क्या स्थान और क्या उपयोग है। संसार त्यागी संन्यासी आपका उपयोग करते नहीं देखे गये। हाँ, भक्त लोग देवताओं के शृङ्गार में आपका उपयोग कर लेते हैं और फिर आपको भगवान् का निर्माल्य समझ, श्रद्धा से सिर पर चढ़ा, यत्न पूर्वक एक ओर रख देते हैं, और समय मिलने पर गंगाजी में प्रवाहित कर देते हैं।

जब

प्रभाते स्नातीनां नृपति-रमणीनां कुचतटी।
गतो यावन्मावर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः॥

मृगास्तावद् वैमानिक शतसहस्रैः परिवृता ।
विशन्तिं स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दन–वनम् ॥

तब आप तो सशरीर गंगाजी में प्रवाहित किए जाते हैं। अवश्य ही आपकी सद्गति होती होगी। किन्तु यह याद रखिये कि सद्गति का सौभाग्य आपको तभी प्राप्त होता है जब आप पहिले अपने आपको देवता को समर्पित कर दें और उनके निर्माल्य हो जायँ। नहीं तो रमणियों के विलास भवन से सुबह होते ही मेहतर आपको बुहारकर घूरे पर फेंक देता है, जहाँ से म्यूनिस्पैलिटी की गाड़ी में अन्तिम यात्रा कर आप किसी गड्ढे में दफ़ना दिए जाते और वहाँ से सड़ाँइँध का विस्तार करते हैं।

आप अपने रूप से लोगों को लुभाते और अपनी गन्ध से उनमें मादकता लाते हैं। गुलाबी गर्मी की शीतल चाँदनी रात में, जब दक्षिण मलय हलके झोंकों से चल रहा हो, उस समय आप चाहे बेला या जुही के रूप में हों और चाहे रजनी गन्धा के रूप में, आपकी मधुर गन्ध लोगों के हृदयों में कौनसा भाव उदय करती है? 'ललित-लवंग-लता परिशीलन कोमल मलय समीरे' की पंक्ति आपकी इस मादक कर देने की शक्ति की महिमा हो में तो लिखी गई थी! और उस समय 'जुही की कली' की क्या दशा होती है? विलासिता के राजसभाव उत्पन्न करने में आप इस सृष्टि के सबसे सफल साधक और सबसे बड़े कारण हैं। और आपके वर्ण? उन्हें देखकर किसी को प्रेयसी के चम्पक रंग का, किसी को नीलोत्पल या रक्ताभकमल सी आँखों का—और न मालूम कितने प्रकार से प्रेयसी का स्मरण हो आता है। सारांश यह कि आप शृङ्गार रस के उद्दीपन हैं। उसके आधार हैं। कामदेव ने अपने शरों का आप से—पुष्पों से—निर्माण कर आपकी शक्ति और सार्थकता को प्रमाणित करके तार्किकों को हतबुद्धि और निरुत्तर कर दिया है।

आप आपही हैं, और हम हमहीं। "हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा। कहहु कि कहाँ चरन कहँ माथा।" नियति ने हमारा कर्तव्य

कुछ और निर्धारित किया है और आपका कुछ और। हजरत ईसामसीह ने कहा था—"मनुष्य का पुत्र संसार में दूसरों की सेवा करने आया है—दूसरोंसे सेवा कराने के लिए नहीं।" हम सेवा करने के लिए और आप सेवा लेने के लिए हैं। माली आपको सींचते हैं, मालिनें आपको गूँथती हैं, कुल कामिनियाँ आपको अपने सुकुमार करों से बड़ी कोमलता से स्पर्श करती हैं। आप धूप और तुषार से बचाये जाते हैं। और हम ? जब उच्छ्वासों पवन क्रुद्ध होकर भूमण्डल को झकझोरने लगते हैं, जब प्रलयान्तक मेघ मूसलाधार वारि धारा से वसुन्धरा को डुबा देने को प्रयत्नशील हो जाते हैं, जब इन्द्र उपल बरसाते हैं, जब मेष के सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से पृथ्वी के हृदय का सार तक खींचने का उद्योग करते हैं—तब, उस समय भी हम यों ही, भगवान् के सहारे, नृत्य और गान करते हुए, अथवा "जाही बिधि राखे राम, ताही विधि रहिए" सोचकर, बिना हिले-डुले, चुपचाप, ज्यों के त्यों खड़े रहते हैं। अपनी बकरियों के लिए हमें बिल्लेसुर बकरिहा दिन दहाड़े हँसिया लगी लग्गी से, झटका देकर, निर्दयता पूर्वक तोड़ लेते हैं, किन्तु आप—

होले झरें शिथिल कवरी में,
गूथें हर शृङ्गार कामिनी।

—श्रीनारायण चतुर्वेदी